आत्म-दर्शन

सत्यनारायण गोयनका

आत्म-दर्शन

(जीवन में वास्तविक शांति और सुख की
प्राप्ति का मार्ग-निर्देश)

आत्म-दर्शन

सत्यनारायण गोयनका

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

भारतीय कॉपीराइट एक्ट के तहत इस पुस्तक में प्रकाशित सामग्री के सर्वाधिकार प्रकाशक के पास सुरक्षित हैं। कोई भी व्यक्ति/संस्था/समूह आदि इस पुस्तक की आंशिक या पूरी सामग्री किसी भी रूप में बिना अनुमति के मुद्रित/प्रकाशित नहीं कर सकता। इस चेतावनी का उल्लंघन करनेवाले कानूनी तौर पर हर्जे-खर्चे व हानि के उत्तरदायी होंगे। सभी विवादों का न्यायक्षेत्र दिल्ली रहेगा।

ISBN 978-81-7309-840-6 (PB)

© सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

•

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

एन-77, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001

Publisher

Sasta Sahitya Mandal Prakashan

N-77, First Floor, Connaught Circus, New Delhi-110 001

फोन / Phone : 23310505, 41523565

Visit us at : www.sastasahityamandal.org

E-mail : sastasahityamandal@gmail.com

शाखा : कमला सदन, पटना साइंस कॉलेज के सामने, अशोक राजपथ, पटना-800 006 (बिहार); फोन : 0612-2678025

•

संस्करण : 2020

मूल्य : **100/-**

•

आवरण सज्जा : सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

मुद्रक : आर.के. ऑफसेट प्रोसेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

AATM-DARSHAN

by Satyanarayan Goyanaka

Price : Rs. 100/-

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता श्री सत्यनारायण गोयनका का जीवन जनकल्याण के लिए अनेक वर्षों से समर्पित है। उनकी आंतरिक इच्छा है कि विश्व के प्रत्येक प्राणी का जीवन शांति से परिपूर्ण और आनंद से भरपूर हो। इस पावन ध्येय को सामने रखकर उन्होंने स्वयं जिस मार्ग का अनुसरण किया है और जिस पर अब देश-विदेश के असंख्य भाई-बहनों को चलने के लिए प्रेरित कर रहे हैं, वह अद्वितीय है। उनका संबंध न किसी जाति से है, न धर्म से; न किसी वर्ग से है, न किसी राष्ट्र से। वह सार्वजनीन, सार्वकालिक और सबके हित का मार्ग है। यह उस धर्म का मार्ग है, जिसका आधार प्रेम है और जिसकी धुरी मानवता है।

श्री सत्यनारायणजी ने धर्म के मर्म को समझा है और उसका जीवन में समावेश करने के लिए उन्होंने विपश्यना की साधना-पद्धति को अपनाया है। वह स्वयं उससे लाभान्वित हुए हैं और दूसरों को उसका लाभ पहुँचा रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक चार खंडों में विभक्त है। पहले खंड में उन्होंने बताया है कि वास्तविक धर्म क्या है। दूसरे खंड में उन्होंने विपश्यना के संबंध में जानकारी दी है। तीसरा खंड इस पुस्तक की जान है। उसमें उनके वे प्रवचन दिए गए हैं, जो वह विपश्यना-शिविर के ग्यारह दिनों में दिया करते हैं। अंतिम प्रवचन दीक्षा-प्रवचन है। इन प्रवचनों से उन्होंने न केवल विपश्यना के महत्त्व पर प्रकाश डाला है; अपितु शिविर के प्रत्येक दिन की साधना को बड़े विस्तार से समझाया है। ये प्रवचन इतने सरल, इतने सुबोध हैं कि प्रत्येक साधक सहज ही उन्हें ग्रहण कर लेता है। अंतिम खंड में कुछ प्रेरक प्रसंग संग्रहीत किए गए हैं।

यह पुस्तक एक बार नहीं, बार-बार पढ़ने के लिए है। कहावत है कि सागर में जो जितनी गहरी डुबकी लगाता है, उतने ही मूल्यवान रत्न उसके हाथ पड़ते हैं। यही बात इस पुस्तक के साथ है। इसे पढ़कर एक ऐसी विधा हाथ लगती है, जिसे जीवन में उतारकर व्यक्ति धन्य हो जाता है।

श्री सत्यनारायणजी विपश्यना के आचार्य हैं। यह पद उन्हें इस विद्या के महान उन्नायक ऊ बा खिन ने प्रदान किया था।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे इस पुस्तक को मनोयोगपूर्वक पढ़ें, पर उतने से ही संतोष न मान लें। विपश्यना के शिविर में सम्मिलित होकर स्वयं अनुभव करें कि अमृत का स्वाद क्या होता है और वह जीवन को किस प्रकार अनंत सुख और अनंत शांति से भर देता है।

—मंत्री

दो शब्द

कल्याणमित्र श्री सत्यनारायणजी गोयनका भारत तथा विदेशों में अनेक वर्षों से विपश्यना-साधना का प्रशिक्षण दे रहे हैं। अब तक लगभग तीन सौ शिविरों के आयोजन हो चुके हैं। ये शिविर ग्यारह दिन के होते हैं और प्रतिदिन शाम को प्रवचन दिए जाते हैं, जिनमें साधकों को मार्गदर्शन और विधि के बारे में स्पष्टीकरण होता है। इन ग्यारह प्रवचनों के संग्रह इस पुस्तक में हैं। श्री गोयनकाजी के इन प्रवचनों का संक्षिप्तीकरण श्री रामसिंहजी ने किया है। ये प्रवचन हिंदी की मासिक पत्रिका 'विपश्यना' में फरवरी 1982 से नवंबर 1982 तक के अंकों में क्रमश: प्रकाशित हुए हैं।

शिविर में सम्मिलित होकर जिन-जिन साधकों के इन प्रवचनों को सुना है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि इन्हें सुनते समय कितनी तल्लीनता आती है। मैं इन प्रवचनों को तीन शिविरों में तीन बार सुन चुका हूँ। उनकी गूँज आज भी मेरे मन में झंकार पैदा करती है। अत्यंत सरल और अंत:करण को छू लेनेवाले इन प्रवचनों में साँम्प्रदायिक भाव लेशमात्र भी नहीं है।

भगवान बुद्ध ने उन दिनों प्रचलित अनेक ध्यान-विधियों को अपनाकर देखा, पर संतोष नहीं हुआ। अंतत: जिस विधि की स्वत: खोजकर अभ्यास करते हुए निर्वाण प्राप्त किया है, वह 'विपश्यना' ध्यान-पद्धति है। इसकी विशेषता यह है कि यह उन सभी ध्यान-विधियों से सरलतम और वांछित फल देनेवाली है। इसका बौद्ध संप्रदाय से कोई लेन-देन नहीं है, इसलिए यह सभी संप्रदायों के लोगों के अनुकूल पड़ती है।

इस विधि में कोई बाहरी आलंबन नहीं लिया जाता; बल्कि ऐसे आलंबन के सहारे मन टिकाया जाता है, जो सबके लिए समान रूप से मान्य और

सुलभ है। अपना खुद का श्वास, अपना शरीर और अपने शरीर पर होनेवाली संवेदनाएँ सबके लिए समान रूप से सुलभ आलंबन हैं।

किसी भी नाम या मंत्र का जाप नहीं, किसी भी शब्द या वस्तु का सहारा नहीं। इसका सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि अपना मन किसी बाहरी आलंबन में उलझे बिना स्वयं की साँस, शरीर और शरीर की संवेदनाओं के आधार पर एकाग्र होता है, जिनका कि हमारे मन के विकारों के साथ गहरा संबंध है। ऐसी एकाग्रता प्राप्त होने पर हम वर्तमान में जीना सीखते हैं और संवेदनाओं के प्रति राग-द्वेष न जगाकर मात्र दृष्टिभाव से देखने का प्रयास करते हैं। सामान्य रूप से संवेदना होते ही हम अपने राग या द्वेष के संस्कारों को बढ़ावा देते हैं, परंतु इस विधि के अभ्यास द्वारा सजग, सचेत होकर जब उन्हें दृष्टाभाव से देखते हैं तो राग या द्वेष नहीं बनते और तब पुराने संग्रहीत राग, द्वेष और मोह से संस्कार उभरकर आते हैं और नष्ट होते हैं। इस प्रकार निर्वाण प्राप्त करने की यह प्रक्रिया 'विपश्यना-साधना' से सहजभाव से सीखी जा सकती है, परंतु इसे मात्र पढ़कर कोई व्यक्ति स्वयं का शिक्षक नहीं बन सकता है। इसके लिए एक बार किसी शिविर में जाकर विधिवत् अभ्यास करना नितांत आवश्यक है। इन प्रवचनों को छापने की स्वीकृति देकर श्री गोयनकाजी ने साधकों को धन्य किया है।

शिविर में शामिल होने के लिए 'विपश्यना' विश्व विद्यापीठ, धम्मगिरि, इगतपुरी-422403, जिला नासिक (महाराष्ट्र) से संपर्क करना चाहिए।

—दलसुख मालवणिया

ऊ बा खिन : एक परिचय

19 जनवरी ऊ बा खिन का स्मृति दिवस है। सन् 1971 में इसी दिन बर्मा के इस संत गृहस्थ ने 72 वर्ष की अवस्था में अपना शरीर छोड़ा। उनका जन्म रंगून में सन् 1899 में हुआ था।

ऊ बा खिन की सबसे बड़ी विशेषता थी—कर्मठता। उनका 72 वर्ष का लंबा जीवन अथक कर्ममय ही बीता। उनका सारा जीवन कठिन श्रम और उस श्रम के मीठे फलों से ही भरा हुआ था। एक अत्यंत अभावग्रस्त गरीब माँ-बाप के यहां जन्म लेकर भी उन्होंने अपनी कर्म-निष्ठा के बल पर ही ऐसी स्थिति प्राप्त की, जिससे सारा जीवन सुख-संतोष से भरा रहा। विद्यार्थी-जीवन में भी अत्यन्त कुशाग्र तथा परिश्रमी होने के कारण वे हर कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। मैट्रिक की परीक्षा बहुत ऊँचे अंकों से पास की और सरकारी छात्रवृति भी हासिल की, परंतु घर की आर्थिक स्थिति इतनी गई-गुजरी थी कि चाहते हुए भी कॉलेज की शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके। मजबूर होकर किसी सरकारी दफ्तर में एक निम्न श्रेणी के क्लर्क की नौकरी से जीवन-चर्या आरंभ की, परंतु अपनी नेकनीयता, मेहनत और कर्तव्य-निष्ठा के बल पर स्वाधीन बर्मा के प्रथम एकाउंटेंट-जनरल बने।

सरकारी सेवा-काल में कुछ वर्ष तो ऐसे बीते जबकि एक साथ चार-चार सरकारी विभागों के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे। साथ ही न जाने कितनी सलाहकार समितियों के सदस्य भी बने रहे। उन्होंने इतने पदों के उत्तरदायित्व को बिना थके, मुस्कराते हुए निभाया। इन जिम्मेदारियों को उन्होंने ऐसी सफलतापूर्वक निभाया कि उनके कार्यकाल में प्रत्येक विभाग में उपलब्धियों के बेजोड़ कीर्तिमान स्थापित हुए। यही कारण था कि पचपन वर्ष की

अवस्था में सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त कर लेने के बाद भी सरकार ने उन्हें आगामी बारह वर्षों तक सेवा में लगाए ही रखा। सरसठ वर्ष की अवस्था में जब सेवा-मुक्त हुए भी तो सरकारी अनिच्छा से ही। इतनी लंबी शासन-सेवा न केवल बर्मा के लिए, बल्कि संभवतः विश्व भर की सभी सरकारों के लिए अनूठी बात ही है। अपने दायित्व में अनवरत लगे रहना और आलस्य को पास न फटकने देना, यह उनका सबसे बड़ा गुण था।

उनकी दूसरी बड़ी विशेषता थी—सत्य-निष्ठा। ईमानदारी उनके स्वभाव का अंग बन गई थी। वह जिन सरकारी पदों पर थे, उन पर आसीन होकर कोई भी भ्रष्टाचार से मुक्त न रह सका। वे ऐसी काजल की कोठरियाँ थीं, जिनमें रहकर ऊ बा खिन जैसा सत्यनिष्ठ व्यक्ति ही बेदाग रह सका। वह न केवल स्वयं भ्रष्टाचार से मुक्त रहे, बल्कि अपने अन्य अनेक साथी, सहयोगी और सहकारियों को भी मुक्त रह सकने योग्य बना सके। सरकारी दायित्व निभाने में वह जहाँ एक ओर धन-वैभव के अथवा पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभन से अछूते रहे, वहाँ दूसरी ओर राजनैतिक नेताओं और मंत्रियों के भय और आतंक के दबाव में आकर कोई भी गलत फैसला करने से भी बचते रहे। उनकी निर्भयता न केवल ऊ नू और ऊ बा श्वे की नागरी सरकार के समय, बल्कि जनरल ने विन की सैनिक सरकार के समय भी वैसी ही दृढ़ रही। निडर रहकर सदैव सत्य और न्याय का ही पक्ष लेते रहे। बड़ी-से-बड़ी कामना-सिद्धि के लिए भी झूठ का सहारा लेना उनके स्वभाव के विरुद्ध था।

सरकारी सेवा से निवृत्त होने के बाद उनकी यह बहुत बड़ी धर्म-कामना थी कि वे विदेशों में जाकर इस मंगलमय विपश्यना मार्ग का प्रचार-प्रसार करें, जिससे कि संतप्त मानवता सच्ची सुख-शांति प्राप्त कर सके। परंतु सरकार उन्हें विदेश जाने के लिए पासपोर्ट नहीं दे सकती थी, क्योंकि वह अपने नियमों से बँधी थी।

1942 के फरवरी या मार्च महीनों की बात है। जापानी सेना रंगून और टौंगू को जीतकर उत्तर बर्मा की ओर बढ़ी चली आ रही थी। अंग्रेज सरकार तेजी से बर्मा को छोड़कर भारत की ओर पलायन कर रही थी। ऊ बा खिन उन दिनों बर्मा रेलवे के अकाउंट अफसर थे और मांडले में ही थे। एक दिन जापानियों ने मांडले पर जोरदार बमबारी की, जिसमें स्टेशन सहित रेलवे का कार्यालय

भी नष्ट हो गया। रेलवे के सभी बड़े विदेशी अधिकारी मांडले छोड़कर मेमियो तथा लाश्यो की ओर भाग खड़े हुए। लाश्यो से हवाई जहाज द्वारा भारत की ओर निकल भागने की योजना थी। ऊ बा खिन मांडले में ही रहे, उन्हें तो भारत जाना नहीं था। बमबारी के बाद जब कुछ देर के लिए शांति हुई तो रेलवे के नष्ट-भ्रष्ट कार्यालय का निरीक्षण करने गए। देखा कि आग से जली सामग्रियों के बीच कार्यालय की तिजोरी सुरक्षित पड़ी है। चाबी उनके पास थी। कूड़े के ढेर को अलग कर किसी प्रकार तिजोरी खोली और उसमें से रेलवे के खजाने का रुपया निकाला, परंतु यह सरकारी धरोहर थी। उसे भागती हुई सरकार को लौटाना आवश्यक था। ऊ बा खिन जानते थे कि उस प्रकार बदलते हुए राज्य की अस्त-व्यस्त स्थिति में कौन पूछेगा कि कौन-सी रकम कहाँ गई और फिर भागा हुआ मालिक तो पूछने भी कहाँ आएगा? तो भी ऊ बा खिन उसमें से एक पाई भी अपने पास रखने की कल्पना तक नहीं कर सकते थे। ऐसी थी उनकी सत्य-निष्ठा। घर पर उनकी छोटी बच्ची बीमार पड़ी थी। उनके लिए चिकित्सा की सख्त आवश्यकता थी। परंतु ऊ बा खिन के अंत:करण में उनका कर्तव्य पुकार रहा था। उन्होंने बिलखते हुए परिवार को छोड़कर तुरंत जीप द्वारा मेमियो की ओर प्रस्थान किया और अपने से बड़े अधिकारी को सारा खजाना सौंपकर ही संतोष की साँस लेते हुए परिवार की देखभाल के लिए मांडले लौटे। इस प्रकार की घटनाओं से उनका सारा जीवन भरा पड़ा है।

करुणा और मैत्री के तो वे मानो साक्षात् अवतार ही थे। सरकारी जिम्मेदारियों में इस प्रकार व्यस्त रहने के बावजूद उनके मन में अधिक-से-अधिक लोगों की धर्म-सेवा करने का उत्साह देखते ही बनता था। इतने व्यस्त जीवन में भी वे हर महीने साधना-शिविर लगाने के लिए आवश्यक समय निकाल लेते थे। कोई दुखी-संतप्त व्यक्ति उनके पास धर्म सीखने आए तो वे अपनी असुविधाओं की चिंता न करके उसे धर्म अवश्य सिखाते थे। कभी-कभी तो केवल एक-दो साधकों के लिए ही शिविर लगा लेते थे और उनके लिए भी उतना की कड़ा श्रम करते थे। प्रत्येक साधक-साधिका के प्रति उनके मन में असीम वात्सल्य उमड़ता रहता था। सभी उन्हें अपनी ओर से पुत्र-पुत्री जैसे लगते थे। मृत्यु के कुल तीन दिन पूर्व तक उन्होंने एक शिविर-संचालन कार्य पूरा किया और मृत्यु के पहले दिन तक भी इक्के-दुक्के साधकों को धर्म

सिखाते रहे। प्रत्येक साधक के प्रति तो उनकी असीम करुणा-मैत्री उमड़ती ही रहती थी, समस्त प्राणियों के प्रति भी उनके मन में उतना ही असीम प्यार भरा हुआ था। जो आश्रम में रहे हैं वे जानते हैं कि उनकी असीम मैत्री-भावना के कारण वहाँ के साँस, बिच्छुओं तक ने अपना हिंसाभाव त्याग दिया था। सभी प्राणी उनकी असीम मैत्री से प्रभावित थे। आश्रम के कण-कण उनके प्रेम-रस से सराबोर था। आश्रम के पेड़-पौधों की भी कितने प्यार से सेवा करते थे। आश्रम के फूल-फूल में, पत्ते-पत्ते में, उनके अंतर का प्यार छलकता रहता था। यह उनकी मैत्री -तरंगों का ही प्रभाव था कि उस तपोभूमि के फलों से रस-मिठास भी अनूठा, फूलों का रंग-रूप भी अनूठा और उनकी सुरभि-सुगंध भी अनूठी ही होती थी।

एक वर्ष अनहोनी बात हुई। बर्मा जैसे धान्य-बहुल देश में अकाल की-सी स्थिति पैदा हो गयी। उपज कम हुई। सरकार को चावल की राशनिंग करनी पड़ी। जनता इस स्थिति से अत्यंत व्याकुल हुई। उस समय अपनी दुखी देश-वासियों के प्रति ऊ बा खिन की करुणा असीम हो उठी। ने केवल होंठों पर; बल्कि उनके रोम-रोम पर यही ध्वनि समाई रहती थी—"**फीतो भवतु लोको च राजा भवतु धम्मिको।**" इससे कुछ समय बाद की भारत में अकाल पड़ा, लगातार दो वर्ष तक यही स्थिति रही। उनकी करुणा फिर सजीव हो उठी। उन्होंने आश्रम के एक छोर पर शुभ्र हिमालय के उत्तुंग शिखरों की एक प्रतिकृति बनवा रखी थी। रोज उसके समीप खड़े होकर ध्यान करते और समग्र भारत के प्रति अपनी मंगल-कामना भेजते। कहते, "मैं न जाने कितनी बार भारत में जन्मा हूँ और इस पावन हिम प्रदेश में ध्यान-भावना के लिए वर्षों रहा हूँ। आज उस देश के लोग संत्रस्त हैं, उन्हें सुख-शांति मिले। सभी लोग धर्म-बिहारी बनें।" कभी-कभी कहते, "मुझे भारत अवश्य ही जाना है। बर्मा पर भारत का आध्यात्मिक ऋण है, उसे भारत को लौटाना है। मुझे प्राप्त हुई यह अनमोल विपश्यना-पद्धति भारत की ही धरोहर है। मुझे उसे लौटाना है। अपनी यह खोई हुई निधि वापस पाकर भारत धन्य हो उठेगा। न जाने इस समय उस देश में पुण्यपारमितावाले कितने लोग पके-पकाए तैयार बैठे है। उन्हें सद्धर्म की थोड़ी-सी भी चेतावनी जाग्रत कर देगी और वे तुरंत धर्म के मार्ग पर आरूढ़ होकर अपना कल्याण साध लेंगे।"

वे स्वयं तो भारत नहीं आ सके, परंतु उनके आदेशानुसार उनके धर्म-पुत्र (श्री सत्यनारायणजी) द्वारा जब यहाँ लोगों को विपश्यना दी जाने लगी, तो उनक प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं थी। उनके संदेशों में अपरिमित मंगल-मैत्री छलकी पड़ी थी।

इस महापुरुष के गुणों का स्मरण कर हम भी प्रेरणा पावें और अपने जीवन में उनकी -सी कर्तव्यनिष्ठा, निष्काम सेवाभावना, मैत्री और करुणा भरने का प्रयास करें। यही कल्याणकर है, यही मंगलकर है, यही श्रेयस्कर है।

आत्म-दर्शन माने किसी काल्पनिक आत्मा का दर्शन नहीं। आत्म-दर्शन माने स्व-दर्शन, सत्य-दर्शन। अपने बारे में जो सच्चाई है उनका अन्वेषण-अनुसंधान। यह एक ऐसी विधा है, जिसके सहारे साधक अपने भीतर काया और चित्त के क्षेत्र में अनित्य स्वभाववाली ऐंद्रिय अनुभूतियों का दर्शन करते हुए इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव परम सत्य का साक्षात्कार कर लेता है और इस उपक्रम में अपने मन पर पड़े विकारों से सहज ही छुटकारा पा लेता है।

—सत्यनारायण गोयनका

लेखक-परिचय

श्री सत्यनारायण गोयनका का जन्म ब्रह्मदेश के मांडले नामक नगर में सन् 1924 में हुआ। अपने बुद्धि-कौशल तथा अध्यवसाय से उन्होंने औद्योगिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर उन्नति की और वहाँ के विख्यात उद्योगपतियों में उनकी गणना होने लगी।

श्री सत्यनारायणजी की रुचि बड़ी व्यापक थी। आरंभ से ही साहित्य, संस्कृति, अध्यात्म, कला और समाज-सेवा उनकी अभिरुचि थी। इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

ब्रह्मदेश के महालेखापाल ऊ बा खिन द्वारा प्रचारित-प्रसारित विपश्यना-साधना की ओर 1955 में वह अपनी अस्वस्थता के कारण आकृष्ट हुए। उससे इन्हें विशेष लाभ हुआ। फिर तो उन्होंने न केवल उस साधना के मूल्य को समझा; बल्कि उसकी गहराइयों में डुबकी लगाई। इसका उनके जीवन पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा।

सन् 1969 में वह भारत आए। अपने शरीर-त्याग से पूर्व ऊ बा खिन ने उन्हें उस भागवती विद्या को जन-जन तक पहुँचाने के लिए आह्वान किया और आचार्य का पद सौंपा। व्यवसाय से पूर्णतया अवकाश ग्रहण कर सत्यनारायणजी ने अपने शेष जीवन को इसी लोकोपयोगी कार्य के लिए समर्पित कर दिया। तब से विपश्यना-शिविरों का क्रम लगातार चल रहा है। भारत तथा अन्य देशों में कई स्थायी केंद्र स्थापित किए गए हैं और किए जा रहे हैं। अनेक सहायक आचार्य इस कल्याणकारी प्रवृत्ति में उनका हाथ बँटा रहे हैं। लाखों साधकों ने इस धर्म-धारा में अवगाहन करके अपने जीवन में धन्यता अनुभव की है, आज भी कर रहे हैं।

अधिकांश शिविर स्थायी केंद्रों में ही संचालित होते हैं। बिना किसी जात-पात, धर्म-संप्रदाय, विश्वास आदि के भेदभाव के कोई भी जिज्ञासु व्यक्ति उनमें सम्मिलित हो सकता है। वहाँ साधकों के निवास और भोजनादि की समुचित व्यवस्था है।

साधकों से!

मन मंदिर में धर्म-ज्योति जगाए रखें।
भीतर प्रज्ञा-प्रदीप प्रज्वलित रखें॥
भीतर का अंधकार दुखदायी होता है।
वर्तमान के लिए भी, भविष्य के लिए भी॥
भीतर का प्रकाश, मंगलदायी होता है।
वर्तमान के लिए भी, भविष्य के लिए भी॥

कभी-कभी ब्राह्य जीवन में अंधकार छा जाता है। सारी बातें अवांछित होने लगती हैं। कुछ भी मनवांछित नहीं होता। ऐसी अवस्था में नासमझ आदमी भीतर का होश खो बैठता है। अंतर की प्रज्ञा का प्रदीप बुझ जाता है। धर्म-ज्योति विलुप्त हो जाती है। जैसे बाहर वैसे ही भीतर भी अंधकार-ही-अंधकार छा जाता है। अपने मन-मानस में द्वेष-द्रोह, चिड़चिड़ाहट, झुँझलाहट, रुदन-विलाप पैदा करता है। चित्तधारा पर आकुलता-व्याकुलता के अकुशल संस्कार बीज बोता है। अब भी दुखी होता है, भविष्य के लिए भी दुख ही निर्माण करता है। भीतर अंधकार है, इसलिए भविष्य के लिए भी अंधकार ही निर्माण करता है।

इसके विपरीत ऐसी ही प्रतिकूल परिस्थिति में एक समझदार आदमी अपने मन का संतुलन नहीं खोता, समता नहीं खोता। किसी अन्य के प्रति अपना मन मैला नहीं करता। धीरज-धर्म बनाए रखता है। प्रज्ञापूर्वक समझता रहता है कि यह स्थिति नित्य, शाश्वत, ध्रुव नहीं है। अनंतकाल तक रहनेवाली नहीं है। देर-सबेर बदलेगी ही। जो भी लोग ऐसी विपरीत स्थिति पैदा करने केमाध्यम बने हैं, उनके प्रति मंगलमैत्री ही सृजन करता है, द्वेष-द्रोह नहीं। चित्तधारा पर कुशल संस्कारों के बीज ही वपन करता है। फलतः इस समय भी शांति-सुख बनाए

रखता है, भविष्य के लिए भी शांति-सुख ही तैयार करता है। भीतर धर्म-ज्योति जगमगाती है, तो अपने भविष्य को प्रकाश से भर देता है।

एक अवस्था ऐसी भी आती है, जबकि बाह्य जीवन सुख-समृद्धि से भरा होता है। धन-दौलत, सत्ता-प्रभुता, पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान सभी कुछ प्राप्त होता है। सारी बातें मनवांछित होती हैं। अवांछित कुछ भी नहीं होता।

ऐसी अनुकूल परिस्थिति में भी नासमझ आदमी भीतर से होश खो बैठता है। भीतर का प्रज्ञा-प्रदीप बुझ जाता है। धर्म-ज्योति विलीन हो जाती है। अहंकार के दर्प में प्रमत्त हुआ ऐसा मूढ़ व्यक्ति औरों के साथ दुर्व्यवहार करता है। मानस की अकड़न-जकड़न वाणी पर उतारता है, शरीर पर उतारता है। सारे लोकीय सुख प्राप्त होते हुए भी उद्विग्न-उत्तेजित रहता है, तनाव-खिंचाव से भरा रहता है। द्वेष-दौर्मनस्य से भरा रहता है। चित्तधारा पर अकुशल संस्कारों के ही बीज बोता है। भीतर अंधकार है। अत: भविष्य के लिए भी अंधकार ही पैदा करता है।

परंतु ऐसी ही मनोनुकूल अवस्था में एक समझदार व्यक्ति अपने मन का संतुलन नहीं खोता, समता नहीं खोता। गर्व-घमंड को पास नहीं फटकने देता। तनाव-खिंचाव को नजदीक नहीं आने देता। भली-भाँति समझता है कि यह मनोनुकूल स्थिति भी नित्य, शाश्वत, ध्रुव नहीं है। अनंतकाल तक बनी रहनेवाली नहीं है। देर-सबेर बदलेगी। जब तक कायम है, कैसे इसका सदुपयोग कर लूँ! अपने भले के लिए भी, औरों के भले के लिए भी। यों मन में प्रज्ञा-प्रदीप जलाए रखता है तो चित्तधारा पर मैत्री और करुणा के संस्कारों के कर्म-बीज ही बोता है। वर्तमान भी प्रकाशमान, भविष्य भी प्रकाशमान। अब भी सुखी, भविष्य में भी सुखी।

साधको! जीवन में उतार-चढ़ाव तो आते ही रहते हैं। ज्वार-भाटा, वसंत-पतझड़ का सामना करते ही रहना पड़ता है। पर सभी अवस्थाओं में हम अपना मानसिक संतुलन बनाए रखें, समता बनाए रखें। और यह तभी होगा जबकि अंतर का प्रज्ञा-प्रदीप जलाए रखें, धर्म-ज्योति जगमगाए रखें।

यही मंगल-मूल है।

—सत्यनारायण गोयनका

अनुक्रम

दो शब्द 7
ऊ बा खिन : एक परिचय 9
लेखक परिचय 15
साधकों से! 17

1. धर्म का मर्म **21–64**

1. धर्म क्या है / 21
2. धर्म का सार / 28
3. धर्म का सही मूल्यांकन / 34
4. सत्य ही धर्म है / 41
5. सम्यक् धर्म / 48
6. समता धर्म / 54
7. सरल चित्त / 60
8. धर्म–चक्र / 63
9. धर्म धारण करें / 64

2. विपश्यना **65–74**

1. विपश्यना क्या? / 65
2. विपश्यना क्यों? / 68

3. साधना के दस दिन : प्रवचन–प्रवाह **75–156**

पहला दिन / 75–81

दूसरा दिन / 82–87
तीसरा दिन / 88–94
चौथा दिन / 95–102
पाँचवाँ दिन / 103–110
छठा दिन / 111–117
सातवाँ दिन / 118–125
आठवाँ दिन / 126–133
नवाँ दिन / 134–142
दसवाँ दिन / 143–149
दीक्षांत प्रवचन / 150–156

4. कुछ प्रेरक प्रसंग 157–181

धर्म का मर्म

1 / धर्म क्या है ?

धर्म जीवन जीने की कला है—स्वयं सुख से जीने की तथा औरों को सुख से जीने देने की। सभी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं, दुखों से मुक्त रहना चाहते हैं, परंतु जब हम यह नहीं जानते कि वास्तविक सुख क्या है और यह भी नहीं जानते कि उसे कैसे प्राप्त किया जाए, तो झूठे सुख के पीछे बावले होकर दौड़ लगाते हैं। वास्तविक सुख से दूर रहकर अधिकाधिक दुखी होते हैं। स्वयं को ही नहीं, औरों को भी दुखी बनाते हैं।

वास्तविक सुख आंतरिक शांति में है और आंतरिक शांति चित्त की विकार-विहीनता में है, चित्त की निर्मलता में है। चित्त की विकारविहीन अवस्था ही वास्तविक सुख-शांति की अवस्था है।

अत: सच्ची शांति और सच्चा सुख वही भोगता है, जो निर्मल चित्त का जीवन जीता है। जो जितना विकार मुक्त रहता है, उतना ही दुखमुक्त रहता है, उतना ही जीवन जीने की सही कला जानता है, उतना ही सही माने में धार्मिक होता है। निर्मल चित्त का आचरण ही धर्म है। यही जीने की कला है। इसमें जो जितना निपुण है, वह उतना ही अधिक धार्मिक है। धार्मिक की यही सही परिभाषा है।

प्रकृति का एक अटूट नियम है, जिसे कोई 'ऋत' कह ले अथवा 'धर्मनियामता' कह ले, नाम के भेद से कोई अंतर नहीं पड़ता। नियम यह है कि ऐसा किया जाएगा तो उसका ऐसा परिणाम आएगा ही। वैसा नहीं किया

तत्क्षण उसका निरीक्षण करें। साक्षी की तरह निरीक्षण करने मात्र से वह दुर्बल होते-होते विनष्ट हो जाएगा। कभी अनवधातनावश उसका निरीक्षण न कर पावें और परिणामतः वह हम पर हावी हो जाए, तो उसे भी याद कर-करके रोवें नहीं, बल्कि और अधिक सावधान रहने के लिए कृतसंकल्प हों और जागरूकता का अभ्यास बढ़ावें। शुद्ध धर्म में प्रतिष्ठापित होने का यही वैज्ञानिक तरीका है।

जिस अभ्यास से अपने कर्मों का प्रति जागरूकता और सावधानी बढ़ती है, वही शुद्ध धर्म का अभ्यास है। जिस विधि से अपने कर्मों को सुधारनेवाली चित्त-निर्मलता प्राप्त होती हो, वही धर्मविधि है।

जब हम आत्म-निरीक्षण कर अनुभूतियों के बल पर देखते हैं तो पाते हैं कि प्रत्येक दुष्कर्म का कारण अपने चित्त की मलीनता है। कोई-न-कोई मनोविकार है। हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक विकार का कारण अपने ही अहम् के प्रति उत्पन्न हुई गहन आसक्ति है। जब-जब आसक्ति के अंधेपन में इस 'मैं' को अत्यधिक महत्त्व देकर इससे चिपक जाते हैं, तब-तब संकुचित दायरे में आबद्ध होकर मन मलीन कर कोई-न-कोई ऐसा कर्म कर लेते हैं, जो कि परिणामतः अकुशल होता है।

आत्मनिरीक्षण के अभ्यास द्वारा स्वानुभूतियों के बल पर ही यह स्पष्ट होता है कि जब-जब स्वार्थांध होकर हम विकारग्रस्त होते हैं, तब-तब औरों का अहित तो करते ही हैं, अपना सच्चा स्वार्थ भी नहीं साध पाते, और जब-जब इस अंधेपन से मुक्त रहते हैं, तब-तब आत्महित और परहित दोनों साधते हैं। आत्महित और परहित साधने का कर्म ही धर्म है। जहाँ आत्म-लाभ के साथ-साथ पर-लाभ भी सधता हो, वहीं धर्म है। जहाँ किसी का भी अनहित होता हो, वहाँ अधर्म-ही-अधर्म है। आत्मोदय और सर्वोदय का सामंजस्यपूर्ण स्वस्थ जीवन ही धर्म है। आत्मोदय और सर्वोदय अन्योन्याश्रित हैं।

हमारे सत्कर्म और दुष्कर्म केवल हमें ही सुखी-दुखी नहीं बनाते, बल्कि हमारे अन्य संगी-साथियों को भी प्रभावित करते हैं। मनुष्य समाज के अन्य सदस्यों के साथ रहता है। वह समाज का अविभाज्य अंग है। समाज द्वारा स्वयं प्रभावित होता है और समाज को भी थोड़ा-बहुत प्रभावित करता रहता है। इसलिए धर्म-साधन द्वारा जब हम नैतिक जीवन जीते हैं, दुष्कर्मों से

बचकर सत्कर्मों में लगते हैं, तो केवल अपना ही भला नहीं करते, बल्कि औरों का भी भला साधते हैं।

जीवन-मूल्यों के लिए ही तो धर्म-साधना है। यदि धर्म का अभ्यास से जीवन-मूल्य ऊँचे नहीं उठते, हमारा लोक-व्यवहार नहीं सुधरता, हम अपने लिए तथा औरों के लिए मंगलमय जीवन नहीं जी सकते, तो ऐसा धर्म हमारे किस काम का? किसी के भी किस काम का? धर्म इसलिए है कि हमारे पारस्परिक संबंध सुधरें। हममें व्यवहार-कौशल्य आवे। परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय, सारे पारस्परिक संबंध व्यक्ति-व्यक्ति के संबंधों पर ही निर्भर होते हैं। अतः शुद्ध धर्म यही है कि प्रत्येक व्यक्ति यहीं, इस जीवन में, औरों के साथ अपना व्यवहार-संबंध सुधारे। इसी जीवन में सुख-शांति से जीने के लिए धर्म है। मृत्यु के बाद बादलों के ऊपर किसी अज्ञात स्वर्ग का जीवन जीने के लिए नहीं। मृत्यु के बाद पृथ्वी के नीचे किसी अनजान नरक से बचने के लिए नहीं, बल्कि हमारे ही भीतर समय-समय पर यह जो नारकीय अग्नि जल उठती है, उसे शांत करने के लिए, उससे बचने के लिए। धर्म सांदृष्टिक है, प्रत्यक्ष है। इसी जीवन, इसी लोक के लिए है। वर्तमान के लिए है। जिसने अपना वर्तमान सुधार लिया, उसे भविष्य की चिंता करने की जरूरत नहीं। उसका भविष्य स्वतः सुधर जाता है। जिसने लोक सुधार लिया, उस परलोक की चिंता नहीं। उसका परलोक स्वतः ही सुधर जाता है। जो अपना वर्तमान नहीं सुधार सका, अपना इहलोक नहीं सुधार सका और केवल भविष्य की ओर आशा लगा,परलोक की ओर टकटकी लगाए बैठा है, वह अपने-आपको धोखा देता है। अपने वास्तविक मंगल से वंचित रहता है। शुद्ध धर्म से दूर रहता है। धर्म अकालिक होता है। यानी अभी इसी जीवन में फल देनेवाला होता है। धर्म के नाम कोई अनुष्ठान करें और उसका लाभ यहाँ न मिले, विकार-विहीन चित्त की निर्मलता का वास्तविक सुख यहीं इसी जीवन में न मिले, तो समझना चाहिए कि किसी धोखे में उलझ रहे हैं। शुद्ध धर्म से वंचित हो रहे हैं। धर्म सबके लिए इसी जीवन को सुख-शांति बनाने हेतु है। आँखों के परे किसी सुदूर भविष्य की निरर्थक चिंता से मुक्त होने के लिए है। यही धर्म है। यही धर्म की शुद्धता है। यही शुद्ध धर्म का जीवन है, जिसकी आवश्यकता सार्वजनीन है।

धर्म सार्वजनीन है, इसलिए शुद्ध धर्म का संप्रदाय से कोई संबंध नहीं, कोई लेन-देन नहीं। शुद्ध धर्म के पथ का पथिक जब धर्म-पालन करता है तब किसी संप्रदाय-विशेष के थोथे निष्प्राण रीति-रिवाज पूरे करने के लिए नहीं, किसी ग्रंथ-विशेष के विधि-विधान का अनुष्ठान पूरा करने के लिए नहीं, मिथ्या अंधविश्वास-जन्य रूढ़ि परंपरा का शिकार होकर किसी लकीर का फकीर बनने के लिए नहीं, बल्कि शुद्ध धर्म का अभ्यासी अपने जीवन को सुखी और स्वस्थ बनाने के लिए ही धर्म का पालन करता है। धार्मिक जीवन जीने के लिए धर्म को भली-भाँति समझकर, उसे आत्म-कल्याण और परकल्याण का कारण मानकर ही उसका पालन करता है। बिना समझे हुए केवल आत्म-विश्वास के कारण अथवा किसी अज्ञात शक्ति को संतुष्ट और प्रसन्न करने के लिए अथवा उसके भय से आशंकित-आतंकित होकर धर्म का पालन नहीं करता। धर्म का पालन दूषणों का दमन करने के लिए ही नहीं, बल्कि प्रज्ञापूर्वक उनका पूर्ण शमन और रेचन करने के लिए करता है। धर्म का पालन केवल अपने लिए ही नहीं, बल्कि बहुजन के हित-सुख, मंगलकल्याण और बहुजन की स्वस्ति-मुक्ति के लिए करता है।

धर्म का पालन यही समझकर करना चाहिए कि वह सार्वजनीन है, सर्वजनहितकारी है; किसी संप्रदाय-विशेष, वर्ग-विशेष या जाति-विशेष से बँधा हुआ नहीं है। यदि ऐसा हो तो उसकी शुद्धता नष्ट हो जाती है। धर्म तभी तक शुद्ध है, जब तक सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक है। सबके लिए एक जैसा कल्याणकारी, मंगलकारी, हित सुखकारी है। सबके लिए सरलतापूर्वक बिना हिचक के ग्रहण कर सकने योग्य है।

शुद्ध वायुमंडल में रहना, शुद्ध-स्वच्छ हवा का सेवन करना, शरीर स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना, शुद्ध-स्वच्छ सात्त्विक भोजन मुझे इसलिए करना चाहिए कि यह मेरे लिए हितकर है, परंतु यह केवल मेरे लिए ही नहीं, किसी एक जाति-विशेष, वर्ग-विशेष या संप्रदायक विशेष के लिए ही नहीं, बल्कि सबके लिए समान रूप से हितकर है। केवल मैं ही नहीं, कोई भी व्यक्ति यदि अशुद्ध, अस्वस्थ वातावरण में रहता है, गंदी विषैली वायु का सेवन करता है, अपने शरीर और वस्त्रों को गंदा रखता है, अस्वच्छ-दूषित भोजन करता है तो अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है, रोगी और

दुःखी होता है। यह नियम सार्वजनीन है। किसी एक व्यक्ति-विशेष, किसी एक जाति-विशेष पर ही लागू नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार जब कोई अपने मन के विकारों से विकृत करता है तो व्याकुल होता है। उसके वात-पित-कफ में विषमता पैदा होती है। वह रोग-ग्रस्त होता है। स्वास्थ्य-विज्ञान के सामान्य नियम सभी के तन और मन पर समान रूप से लागू होते हैं। प्रकृति यह नहीं देखती कि इन नियमों का उल्लंघन करनेवाला कौन है, किस जाति का है और किस संप्रदाय का है। प्रकृति किसी संप्रदाय-विशेष के व्यक्ति पर कृपा नहीं करती, न किसी अन्य पर कोप करती है। मलेरिया मलेरिया है। न हिंदू है, न बौद्ध, न जैन है, न पारसी, न मुस्लिम है, न ईसाई। वैसे ही कुनैन कुनैन है। वह न हिंदू है, न बौद्ध, न जैन, न पारसी, न मुस्लिम हैं न ईसाई। इसी प्रकार क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार न हिंदू हैं, न बौद्ध, न जैन हैं, न पारसी, न मुस्लिम हैं, न ईसाई है। विकारों से विमुक्त रहना ही शुद्ध धर्म है। अत: शुद्ध धर्म न हिंदू है, न बौद्ध है, न जैन है, न पारसी है, न मुस्लिम है, न ईसाई है। वह शुद्ध धर्म ही है।

धर्म एक आदर्श जीवन-शैली है, सुख से रहने की पावन पद्धति है, शांति प्राप्त करने की विमल विधा है, सर्वजन-कल्याणी आचारसंहिता है, जो सबके लिए है।

क्या शीलवान, समाधिवान, प्रज्ञावान होना केवल बौद्धों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह होना केवल जैनियों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या स्थितप्रज्ञ, अनासक्त, जीवनमुक्त होना केवल हिंदुओं का ही धर्म है। औरों का नहीं? क्या प्रेम और करुणा से ओत-प्रोत होकर जन सेवा करना केवल ईसाइयों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या जात-पात भेदभाव से मुक्त रहकर सामाजिक समता का जीवन जीना केवल मुसलमानों का ही धर्म है? औरों का नहीं? धर्मपालन का मुख्य उद्देश्य है—हम आदमी बनें। अच्छे आदमी बनें। अच्छे आदमी बन जाएँगे तो अच्छे हिंदू, अच्छे बौद्ध, अच्छे जैन, अच्छे मुसलमान, अच्छे ईसाई आदि ही बन जाएँगे। यदि अच्छे आदमी ही नहीं बन सके तो बौद्ध बने रहने से भी क्या हुआ? हिंदू, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि बने रहने से भी क्या हुआ?

धर्म की इस शुद्धता को समझें और धारण करें। हम सबके जीवन में शुद्ध धर्म जागे। निस्सार छिलकों का अवमूल्यन हो, उन्मूलन हो, शुद्ध सार का ही मूल्यांकन हो, प्रतिष्ठान हो। शुद्ध धर्म जीवन का अंग बन जाए। इसी में हमारा सच्चा कल्याण, सच्चा मंगल समाया हुआ है।

2 / धर्म का सार

ठीक से समझे हुए धर्म का ही ठीक से पालन किया जा सकता है। धर्म के सार को समझें। सार को समझेंगे तभी उसे ग्रहण कर पाएँगे, अन्यथा भीतर का सार-तत्त्व छोड़कर छिलों में ही उलझे रह जाएँगे। उन्हें ही सार समझकर धर्म मानने लगेंगे।

सार में सदा समानता रहती है। भिन्न-भिन्न छिलके हुआ करते हैं और जहाँ इन छिलकों को धर्म मान लिया जाता है, वहाँ धर्म भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यह हिंदुओं का धर्म, हिंदुओं में भी सनातनी, आर्यसमाजी; यह बौद्धों का धर्म, बौद्धों में भी महायानी, हीनयानी; यह जैनियों का धर्म, जैनियों में भी दिगंबरी, श्वेतांबरी; यह ईसाइयों का धर्म, ईसाइयों में भी कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट; यह मुसलमानों का धर्म, मुसलमानों में भी शिया, सुन्नी आदि-आदि धर्म, भिन्न-भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी भी। निस्सार छिलकों को महत्त्व दिए जाने के कारण यह विभिन्नताएँ हैं और इन्हें लेकर ही पारस्परिक विरोध उत्पन्न होते हैं।

कोई चोटी रखे हुए है, कोई दाढ़ी। चोटी मोटी है या पतली? दाढ़ी मुंड़ी मूँछवाली या भरी मूँछवाली? कोई सिर के बाल बढ़ाए हुए है—खूब सजे-सँवरे हैं या रूखे-सूखे जटा-जटिल? कोई सिर मुँड़ाए हुए है तो वह भी उस्तरे से या चिमटी से? किसी ने कान छिदवा रखे हैं तो उनमें बालियाँ पहनी हैं या कुंडल या मुद्राएँ? कोई तिलक लगाए हुए है तो तिलक चंदन का है या रोली का या भस्म का? इस आकार का है या उस आकार का? कोई माला पहने है तो वह रुद्राक्ष की है या चंदन की या तुलसी का? बीच में लटकनवाली है या बिना लटकनेवाली? यदि लटकनवाली है तो उसमें किसी देवी-देवता, गुरु आचार्य का चित्र या चिह्न लटकता है? कोई निर्वस्त्र है तो कोई वस्त्र पहने है। वस्त्र पहने है तो वह सिला है या अनसिला? इस रंग

का है या उस रंग का? इस बनाव-कटाव का है या उस बनाव-कटाव का? धोती है या लुंगी? पाजामा है या पतलून? कमीज है या कुर्ता? अचकन है या कोट? दुपल्ली टोपी है या तुर्की टोपी या अंग्रेजी हैट? कोई गले, भुजा, कलाई, पैर या अंगुलियों में डोरा बाँधे है अथवा जंतर, ताबीज या गंडा? और है तो उसमें कोई अंक है या अक्षर? या शब्द? या मंत्र? या तंत्र? कोई हाथ में पात्र लिए है या करपात्री है? पात्र है तो मिट्टी का है? लकड़ी का है? लोहे का है? या अन्य किसी धातु का?

ये अनेक रूप-रूपाय, भिन्न-भिन्न बाह्याडंबर, वेश-भूषा, आकार-प्रकार, बनावट-सजावट, भिन्न-भिन्न संप्रदायों के प्रतीक मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत भिन्न-भिन्न धर्म बनकर पारस्परिक विरोध का कारण बन गए हैं। कभी किसी धर्मनेता ने प्यासी जनता को अमृत जैसा धर्मरस दिया, परंतु जिस पात्र में दिया, वह पात्र ही हमारे लिए प्रमुख हो गया। कालांतर में जब वह पात्र जीर्ण हुआ तो उसमें छेद होकर सारा धर्मरस बह गया। खोखला पात्र ही हमारे पास रह गया। इस पात्र के रस को हमने जाना या चखा नहीं। इसलिए यह खोखला पात्र हमारे लिए धर्म हो गया और इसे छाती से चिपकाए रखने को हम जीवन की सार्थकता मानने लगे।

जैसे भिन्न-भिन्न रूप-सज्जा, वैसे ही भिन्न-भिन्न थोथे, निर्जीव, निष्प्राण कर्मकांड हमारे लिए धर्म बन गए हैं और हमारा उनसे गहरा चिपकाव हो गया है। शुद्ध धर्म फिर छूट गया और हम चूल्हे, चौके को, कच्ची या पक्की रसोई को, जात-पात को, छुआछूत को, इस या उस नदी, पोखरे अथवा समुद्र में नहाने को, इस या उस तीर्थ की यात्रा कर लेने को ही धर्म मानने लगे हैं। इस या उस मंदिर, मस्जिद, गिरजा, चैत्य, उपाश्रय, गुरुद्वारे में सुबह-शाम हाजिरी दे आने को ही धर्म मानने लगे हैं। पूर्व या पश्चिम की ओर मुँह करके, खड़े होकर या बैठकर, घुटने मोड़कर या पाल्थी मारकर, हाथ जोड़कर या अंजली पसारकर, पंचांग, अष्टांग या दंडवत्-प्रणाम करके, इस या उस देवी, देवता, गुरु आचार्य या धर्मनेता की तस्वीर, मूर्ति, चरण-चिह्न, पादपीठ या धातु-अवशेष अथवा उसके उपदेश-ग्रंथ के सामने वंदना करने, सिर झुकाने, दीप जलाने, नैवेद्य चढ़ाने, आरती उतारने, शंख बजाने, घंटे-घड़ियाल बजाने, नाचने, गाने, अजान पढ़ने, स्तोत्र पढ़ने, उसके नाम की

माला जपने अथवा उसकी वाणी के पाठ करने को ही धर्म मानने लगे हैं, भले यह सब यंत्रवत् ही क्यों न होता हो। इसी प्रकार भयभीत चित्त द्वारा किसी की मनौती मनाने, प्रसाद चढ़ाने, जात -झडुला, जादू-टोना अथवा झाड़-फूँक करने का ही धर्म मानने लगे हैं। किसी अज्ञात, अदृश्य सत्ता को संतुष्ट-प्रसन्न करने के लिए मुर्गी, बकरे, गाय, भैंस या मनुष्य तक की बलि चढ़ाते हैं और इसे भी धर्म ही मानते हैं। कोई बलि चढ़ाते हुए एक झटके में धड़ से सिर अलग करने को और कोई धीरे-धीरे तड़पा-तड़पा कर मारने को धर्म मानते हैं। इन भिन्न-भिन्न कर्मकांडोंवाला धर्म बाजार में भी बिकने लगा है। हम चाहें तो पैसे के बल पर ऐसे धर्म को खरीद सकते हैं। जो कर्मकांड स्वयं नहीं कर सकते, उसे किराए के लोगों से करवा सकते हैं। यह सत्य धर्म का घोर अवमूल्यन है।

सत्य धर्म की उपलब्धि के लिए हमें जो साधन मिले, हमारी नासमझी के कारण वे ही हमारे लिए बंधन बन गए। किसी संत पुरुष ने हमें अंधकार में भटकते देख अत्यंत करुण चित्त से हमारे हाथ में जलती हुई मशाल पकड़ाई, ताकि उस प्रकाश के सहारे हम सही रास्ते चलकर अपनी जीवन-यात्रा सकुशल पूरी करें; परंतु कालांतर में उस मशाल की ज्योति बुझ गई। हमारे हाथ में केवल डंडा रह गया और हम मूढ़तावश उस डंडे को ही मशाल मानकर उससे चिपक गए। शिव छूट गया, शव रह गया। थोथा बाह्याचार ही हमारे लिए धर्म बन गया।

कभी यह भी होता है कि इन बाह्याचार और बाह्याडंबर-रूपी स्थूल छिलकों को तो हम धर्म नहीं मानते हैं, परंतु इनकी जगह ऐसे सूक्ष्म-सूक्ष्म छिलकों को धर्म मानने लगते हैं, जो अधिक भ्रामक और अधिक कठिन बाँधनेवाले होते हैं। जब हम किसी अंध मान्यता, अंध-भावावेश, अथवा बौद्धिक तर्कजाल को धर्म मानने लगते हैं, तो उसमें अधिक बुरी तरह उलझ जाते हैं। हम जिस परिवार में जन्मे हैं, जिस परिवेश में पले हैं, उस वंश-परंपरा की किसी मान्यता के बारे में बार-बार सुनते रहे हैं, अतः उस मान्यता की लकीर बार-बार मन पर पड़ते-पड़ते इतनी गहरी बन गई है कि उसे छोड़कर और कोई मान्यता सही हो सकती है, इसे स्वीकार करने तक को तैयार नहीं होते। हम जिस दार्शनिक परंपरा को मान रहे हैं, उसके साथ हमारा

एक भावनात्मक संबंध जुड़ जाता है। फलस्वरूप उसके विपरीत अन्य किसी दृष्टिकोण को कभी स्वीकार ही नहीं कर सकते, अथवा यह भी होता है कि अपनी तर्कबुद्धि से हमने किसी मान्यता को अपना लिया है तो अपने ही बुद्धिबल को अत्यधिक महत्ता देने के स्वभाववश अन्य किसी मान्यता को सही मानने को प्रस्तुत ही नहीं होते। परंपरागत मान्यता, हृदयगत भावुकता अथवा बौद्धिक तर्कजाल के कारण जब हम किसी भी मान्यता के गुलाम हो जाते हैं तो उसके प्रति इतनी गहरी आसक्ति पैदा कर लेते हैं कि हमेशा के लिए उसी रंग का चश्मा पहन लेते हैं। अत: उस रंग के अतिरिक्त अन्य कोई रंग हमें दीखता ही नहीं। इस प्रकार सच्चाई से, शुद्ध धर्म से दूर हो जाते हैं, क्योंकि हर बात को अपने ही चश्मे के रंग से देखने के आदी हो जाते हैं।

मान लो, अंधविश्वास व भावावेश अथवा ऊहापोह के आधार पर हमने कोई सही सिद्धांत ही स्वीकार कर रखा हो, परंतु उसके प्रति हुई आसक्ति के कारण उस सिद्धांत को स्वीकारने मात्र को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं, उसके व्यावहारिक पक्ष को सर्वथा भुला देते हैं। किसी सिद्धांत को स्वीकारने मात्र से क्या बनता है? मुख्य बात तो उस सिद्धांत को, यदि वह सही है, तो जीवन में उतारना चाहिए। जो जीवन में उतरे, वही सही धर्म है, अन्यथा निस्सार भावुकता है, थोथा विलास है।

सैद्धांतिक स्तर पर हम आत्मवादी हैं या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हैं या निरीश्वरवादी, द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी, इतने प्रकार के तत्त्वों की संख्या गिननेवाले हैं या उतने प्रकार के तत्त्वों की, इन तत्त्वों की ऐसी-ऐसी व्याख्या करनेवाले हैं या वैसी-वैसी, इससे क्या अंतर पड़ता है। मुख्य बात तो यह है कि व्यावहारिक जगत में हम शुद्ध चित्त का जीवन जी रहे हैं या नहीं? अपने-आपको ईश्वरवादी कहनेवाला व्यक्ति कल की चिंता में कितना व्याकुल हो रहा है? अपने-आपको अनात्मवादी कहनेवाला व्यक्ति अपने अहं में किस कदर डूबा हुआ है? ऐसी अवस्था में कोरा सैद्धांतिक पक्ष किस काम का? मुख्य बात तो व्यावहारिक पक्ष की है, आचरण की है। शुद्ध चित्त पर आधारित आचरण ही धर्म है। कोई विशेष वेश-भूषा पहनें या न पहनें, कोई विशेष कर्मकांड संपन्न करें या न करें, कोई विशेष दार्शनिक मान्यता मानें या न मानें, परंतु यदि हमारा मन-मानस द्वेष-दौर्मनस्यता से भरा रहता है

तो हम सर्वथा धर्महीन हैं और वह स्नेह सौमनस्यता से भरा रहता है तो हम धार्मिक ही हैं। कोई वेश-भूषा, कोई कर्मकांड, कोई दार्शनिक मान्यता हमारे चित्त की विशुद्धि में सहायक सिद्ध होती हो तो ग्राह्य है और यदि हमारी चित्तशुद्धि से उसका संबंध नहीं हो तो निरर्थक, निस्सार है। अगर यही हमें धार्मिक होने की मिथ्या भ्रांति पैदा करनेवाली हो जाए तो जहरीले साँप की तरह खतरनाक है। अत: सर्वथा त्याज्य है। जब हम धर्म के सत्य-सार को नहीं समझते तो ऐसे ही खतरनाक जहरीले साँप-बिच्छू अपने भीतर पालते हैं। भांति-भाँति के गंदे-गंदे कूड़े-करकट बटोरकर उन्हें अपनी छाती से लगाकर कहते हैं—यही हमारा धर्म, यही अनमोल रत्न, यही मणि है।

जब तक धर्म की वास्तविक मणि नहीं प्राप्त होती, तब तक हम कंगाल हैं। हमारा जीवन निस्सार दिखावे, निरर्थक कर्मकांड और निकम्मे बुद्धि-किलोल से भरा रहता है। परंतु इतना होते हुए भी यदि हम इस सच्चाई को समझते हों कि यह सब सारहीन छिलके हैं, धर्म का सार तो चित्त की शुद्धता में है, राग-द्वेष-मोह के बंधनों से मुक्त होने में है, विषम परिस्थितियों में भी चित्त की समता बनाए रखने में है, मैत्री, करुणा, मुदिता में है और साथ-साथ यह भी समझते हों कि ये गुण हममें नहीं हैं, तो देर-सबेर हम धर्म के सार को प्राप्त कर ही लेते हैं। लेकिन जब हम इन निस्सार छिलकों को ही धर्म मानने लगें तो शुद्ध धर्म प्राप्त कर सकने की सारी संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। हम इन बाह्य छिलकों में रमे हुए कभी भीतर की ओर निहारते नहीं, आत्म-निरीक्षण करते ही नहीं। हम यह जाँच करते ही नहीं कि जिसे धर्म माने जा रहे हैं, उसकी वजह से हमारे मन-मानस में क्या सुधार हो रहा है? हमारे जीवन-व्यवहार में क्या सुधार हो रहा है? जन्म-मरण से मुक्ति पाने की हजार चर्चाएँ करेंगे? हजार आशाएँ बाँधेंगे, परंतु यहाँ इसी जीवन में मन को विकारों से मुक्त करने का जरा भी प्रयत्न नहीं करेंगे। धर्म का सार छूट जाने से जितनी बड़ी हानि होती है, उससे कई गुना बड़ी हानि निस्सार को सार समझकर उससे चिपक जाने से होती है। इससे तो रोग असाध्य हो उठता है।

धर्म की शुद्धता को जानना, समझना, जाँचना, परखना, रोग-मुक्ति का पहला आवश्यक कदम है। शुद्ध धर्म सदा स्पष्ट और सुबोध होता है। उसमें रहस्यमयी गुत्थियाँ नहीं होतीं। पहेली-बुझौवल नहीं होता। दिमागी कसरत

नहीं होती। प्रतीकों और अतिशयोक्तियों से भरा हुआ पांडित्य-प्रदर्शन नहीं होता। जो कुछ होता है, वह सहज ही होता है। धर्म की शुद्धता इसी में है कि उसमें अटकलपच्चू, कपोलकल्पनाएँ नहीं होतीं। जो कुछ होता है, यथार्थ ही होता है। धर्म कोरा-सिद्धांत-निरूपण नहीं होता। स्वयं साक्षात्कार, स्वयं अनुभव करने के लिए होता है। धर्म राजमार्ग की तरह ऋजु होता है। उसमें अंधी गलियों जैसी भूल-भुलैया नहीं होती। धर्म यहीं, इसी जीवन में, लाभ देनेवाला होता है। जितना-जितना पालन किया जाए, उतना-उतना लाभ देता ही है। धर्म आदि, मध्य, अंत हर व्यवस्था में कल्याणकारी ही होता है। धर्म सर्वसाधारण के लिए मान रूप से ग्रहण करने योग्य होता है। ऐसा हो तो ही धर्म यथार्थ है, शुक्ल है, शुद्ध है, अन्यथा धर्म के नाम पर कोई धोखा हो सकता है।

वाणी के कर्म, शरीर के कर्म, आजीविका, मानसिक स्वस्थता का अभ्यास, जागरूकता का अभ्यास, एकाग्रता का अभ्यास शुद्ध हो, मानसिक चिंतन और जीवन जगत के प्रति दृष्टिकोण भी शुद्ध हो। यही शुद्ध धर्म है।

मोटे-मोटे तौर पर कह सकते हैं :

1. दान—अहंकार विहीन-अपरिग्रह हेतु दिया गया दान शुद्ध धर्म है।

2. शील—सदाचार का पालन करना, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्या-भाषण और नशे के सेवन से विरत रहना शुद्ध धर्म है।

3. समाधि—मन को वश में करना, उसे एकाग्र कर वर्तमान के प्रति सजग रहने का अभ्यास शुद्ध धर्म है।

4. प्रज्ञा—'मैं', 'मेरे' अथवा प्रिय-अप्रिय-मूलक राग-द्वेष से रहित होकर हर व्यक्ति वस्तु और स्थिति को जैसी है, वैसी यथाभूत प्रज्ञापूर्वक देखने का अभ्यास, चित्त की समता का अभ्यास, शुद्ध धर्म है।

दान, शील, समाधि और प्रज्ञा के ये चारों अभ्यास सार्वजनीन हैं, सांप्रदायिकता-विहीन हैं, सर्वजनहितकारी हैं, सर्वग्राह्य हैं। इसलिए छिलकों से परे शुद्ध धर्म है। परंतु ऐसे धर्म का अभ्यास न कर, चाहें कि हम धार्मिक हों और उससे भी अधिक यह चाहें कि लोग हमें धार्मिक मानें, तो धर्म के नाम पर विज्ञापनबाजी ही करते हैं। नाना प्रकार के ब्राह्याचार करते हैं। नाना प्रकार के दार्शनिक वाद-विवाद करते हैं, वाणी-विलास और बुद्धि-विलास

करते हैं, और इस प्रकार आत्म-प्रवंचना, जग-प्रवंचना के जंजाल में बुरी तरह जकड़ते जाते हैं। न आत्महित सधता है, न परहित।

आत्महित और परहित के लिए शुद्ध धर्म का जीवन अनिवार्य है। शुद्ध धर्म कर जीवन जीने के लिए धर्म की शुद्धता को जानना अनिवार्य है। धान को भूसे से, सार को छिलके से अलग करना अनिवार्य है। सार को महत्त्व देना सीखेंगे तो ही सार ग्रहण किया जा सकेगा।

शुद्ध धर्म का सार नहीं ग्रहण करेंगे तो द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य, दुराग्रह, अभिनिवेश, हठधर्मी, पक्षपात, संकीर्णता, कट्टरता, भय, आशंका, अविश्वास, प्रमाद, कठमुल्लेपन से भरा हुआ जीवन, निस्तेज, निष्प्राण, निरुत्साही ही होगा, कुत्सित, कलुषित, कुटिल ही होगा; व्याकुल, व्यथित, व्यग्र ही होगा। शुद्ध धर्म का सार ग्रहण कर लेंगे तो प्यार और करुणा, स्नेह और सद्भाव, त्याग और बलिदान, सहयोग और सहकार, श्रद्धा और विश्वास, अभ्युदय और विकास से भरा हुआ जीवन ओजस्वी, वर्चस्वी ही होगा; उदात्त, अभय, अचिंत्य ही होगा; सहज, सरल, स्वच्छ ही होगा; मंगल-कल्याण, स्वस्ति से भरपूर ही होगा।

शुद्ध धर्म का यही प्रत्यक्ष लाभ है। प्रत्यक्ष लाभ ही शुद्ध धर्म के सार की सही कसौटी है।

3 / धर्म का सही मूल्यांकन

धर्म का सही मूल्यांकन करना सीखें। यदि सही मूल्यांकन करते रहेंगे तो दृष्टि सम्यक् रहेगी, नीर-क्षीर विभाजन-विवेक बना रहेगा, धर्म-पथ पर अपना संतुलन बनाए रख सकेंगे, अन्यथा धर्म का कोई एक अंग आवश्यकता से अधिक महत्त्व पाकर धर्म-शरीर की सर्वांगीण उन्नति में बाधक बन जाएगा। सम्यक् दृष्टि यही है कि जिसका जितना मूल्य है, उसको उतना महत्त्व दें—न अधिक, न कम। कंकर-पत्थर, काँच, हीरा, मोती, नीलम, मणि सबका अपना-अपना अलग-अलग महत्त्व है। जिसका जितना महत्त्व है उसका उतना ही मूल्य है। लौकिक क्षेत्र में काँच और हीरे का, मिट्टी और सोने का एक जैसा मूल्यांकन नहीं किया जाता। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में 'सब धान पाँच पसेरी' नहीं तौले जाने चाहिए। 'टके सेर भाजी, टके सेर

खाजा' का अविवेकी मूल्यांकान नहीं होना चाहिए, अन्यथा या तो किसी निस्सार छिलके को ही धर्म मान बैठेंगे अथवा धर्म के किसी नन्हे से प्राथमिक कदम को ही सब कुछ मानकर शुद्ध धर्म की उच्चतम अवस्थाएँ कभी प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

मसलन, दान देना अच्छा है। धर्म का एक अंग है, परंतु धर्म की कसौटी पर दान का भी अलग-अलग मूल्यांकन होना चाहिए—वित्तीय नहीं, नैतिक। दान अधिक है या कम, इसका कोई महत्त्व नहीं होता, परंतु देते समय चित्त की चेतना कैसी है, यही ध्यान देने की बात है। यदि उस समय चित्त में क्रोध या चिड़चिड़ाहट या घृणा या द्वेष या भय या आतंक या बदले में कुछ प्राप्त करने की तीव्र लालसा है या यश की प्रबल कामना है अथवा निरहंकार चित्त से दिए गए दान की अपेक्षा बहुत हल्का है, भले मात्रा में अधिक क्यों न हो। शुद्ध चित्त से दिए गए दान का अधिक महत्त्व है। इससे अपरिग्रह और त्याग धर्म पुष्ट होता है, पर इसके महत्त्व की भी अतिरंजना कर इसे ही सब कुछ मान बैठें तो धर्म के अन्य अंगों की अवहेलना होगी और वह कमजोर रह जाएँगे।

इसी प्रकार उपवास भी त्याग धर्म का ही अंग है। हम उपवास द्वारा शरीर को स्वस्थ रखते हैं। स्वस्थ शरीर से ही धर्म का सुगमतापूर्वक पालन किया जा सकता है। शारीरिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त मानसिक संयम के लिए भी उपवास उपयोगी है। उपवास करें और मन भिन्न-भिन्न पकवानों में रमता रहे तो ऐसा उपवास हीन कोटि का होगा। उपवास करें और केवल शरीर को ही नहीं, बल्कि मन को भी संयमित करें तो उपवास उच्चकोटि का होगा। हीन कोटि की तो बात ही क्या, उच्चकोटि के उपवास का भी अतिरंजित मूल्यांकन कर उसे ही सब कुछ मान बैठेंगे तो अहंभाव के शिकार हो जाएँगे। उनका अभ्यास करना तो दूर की बात रही, उन्हें पुष्ट करने की बात भी हम कभी नहीं सोचेंगे।

उपवास करनेवाला शील-सदाचार के क्षेत्र में दुर्बल हो तो उपवास करनेवाला शीलवान व्यक्ति से हीन है। इसी प्रकार सामिष भोजन से निरामिष भोजन, चटपटे मिर्च-मसालेवाले राजसी भोजन से सादा सात्विक भोजन करनेवाला व्यक्ति श्रेष्ठ है, उत्तम है, परंतु सात्विक निरामिष भोजन करनेवाला

व्यक्ति इसी एक गुण के कारण अपने-आपको अन्य सभी से श्रेष्ठ मानने लगे तो मिथ्या अहं के कारण शुद्ध धर्म के उन्नतिपथ से भटक जाएगा। भोजन में मात्रज्ञ और गुणज्ञ होना, यानी उतना ही और वैसा ही भोजन करना, जितना और जैसा कि हमारे शरीर के लिए उपयोगी और आवश्यक है—धर्म का एक अच्छा अंग है, परंतु धर्म के उससे भी अच्छे और ऊँचे अंग हैं, ऐसा नहीं जानेंगे तो उनसे वंचित रह जाएँगे।

अपना अधिकांश समय आलस्य, तंद्रा में गँवानेवाले व्यक्ति की अपेक्षा यथावश्यक कम-से-कम समय सोकर, अधिक-से-अधिक समय जागरूक रहनेवाला व्यक्ति निश्चित रूप से अधिक अच्छा है, परंतु ऐसे व्यक्ति को भी धर्म-पथ की आगे की बहुत-सी मंजिलें प्राप्त करनी होती हैं, इसे वह न भूल जाए।

टहलना, दौड़ना, तैरना, व्यायाम करना और इसी तरह आसन, प्राणायाम करना शरीर को स्वस्थ और फुर्तीला बनाए रखने के लिए आवश्यक है, लाभदायक है। इसी प्रकार रोज नहाना, शरीर को स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना अच्छा है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में इनका अपना महत्त्व है, अपना मूल्य है, परंतु केवल इन्हीं को संपूर्ण धर्म मान बैठें और शरीर की बाहरी सफाई में ही लगे रहकर भीतरी सफाई रोक दें तो अपनी हानि ही होगी।

कोई व्रत पालन करता है तो इसलिए कि मन संयमित, निग्रहित, सबल, सुदृढ़ हो, धर्म मार्ग पर अविचल आरूढ़ हो; परंतु इन व्रतों को ही सब कुछ मान बैठें तो यही बंधन बन जाएँगे, कोई माला फेरता है और मन-ही-मन किसी मंत्र का जाप करता है तो मन को एकाग्र करने के लिए ही; परंतु मन की एकाग्रता का जरा भी अभ्यास करें नहीं और यंत्रवत् माला फेरना और मंत्र जपने की रूढ़ि को ही धर्म मान बैठें तो वह भटकाव है।

कोई मंदिर जाकर अपने उपास्यदेव की मूर्ति के दर्शन करता है। इससे उनके मन में श्रद्धा जागती है। श्रद्धा से मन में सौमनस्यता जागती है। सौमनस्यता चित्त को एकाग्र करने में सहायक होती है। अपने उपास्यदेव की मूर्ति खुली आँखों से देखता है और फिर आँख मूँदकर बार-बार उसका ध्यान करता है। इस अभ्यास द्वारा वह आकृति बंद आँखों के सामने भी आने लगती है। इस प्रकार चित्त का एकाग्र करने का एक साधन प्राप्त हो जाता है। आकृति का

ध्यान करते-करते अपने उपास्यदेव के गुणों का ध्यान करने लगता है और उन गुणों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करने लगता है। यह सुचमुच कल्याणकारी है, परंतु यह सब तो करे नहीं, केवल मंदिर जाने और मूर्ति के सामने यंत्रवत् सिर झुकाने को ही संपूर्ण धर्म मान ले तो वह गलत मूल्यांकन के कारण रूढ़ियों में उलझना है।

इसी प्रकार भजन-कीर्तन तल्लीनता के लिए हैं। चित्त को एकाग्र करने के साधन हैं; परंतु इन्हें इससे अधिक कुछ और मानने लगें तो फिर भुलावे में पड़ जाते हैं। किसी गुरु या संत के दर्शन, उसको किया गया नमन, उसके प्रति श्रद्धा जगाने के लिए हैं। उसके गुणों को देखकर मन में प्रेरणा जगाएँ और वे गुण स्वयं धारण करें, इसी निमित्त हैं। परंतु इसका इससे अधिक मूल्यांकन करने लगते हैं तो विवेक खो बैठते हैं और अंधश्रद्धा के कारण बुद्धि जड़ होने लगती है। किसी धर्म-ग्रंथ का पाठ करते हैं अथवा श्रवण करते हैं तो इसलिए कि उससे हमें प्रेरणा मिले, मार्गदर्शन मिले, जिससे कि धर्म, जीवन में उतार सकें; परंतु इसे भुलाकर केवल श्रवण, पठन को ही सब कुछ मान लेते हैं तो गाड़ी फिर मिथ्यादृष्टि के दलदल में धँस जाती है।

कोरा वाणी-विलास और बुद्धि-विलास धर्म नहीं है। जीवन में उतरा हुआ शील-सदाचार ही धर्म है। शील-सदाचार की भी अलग-अलग श्रेणियाँ हैं। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य और अप्रमाद—इन शीलों में से कोई एक, कोई दो, कोई तीन, कोई चार अथवा कोई पांचों का पालन करता है तो एक-से दूसरा क्रमशः अधिक धार्मिक है। इनमें भी कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट शील का पालन इसलिए कर पा रहा है कि जिस परिस्थिति और परिवेश में वह जन्मा, पला और रहता है, वह उस शील-पालन के अनुकूल है। दूसरा व्यक्ति नितांत प्रतिकूल परिस्थिति में भी उस शील का पालन करता है, मन को वश में रखता है, तो य़ह दूसरा व्यक्ति पहले से अधिक श्रेष्ठ है।

मन को वश में करना धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है। यही समाधि है। परंतु एक व्यक्ति समाधि हासिल करने के लिए जिस आलंबन का प्रयोग करता है, वह राग, द्वेष या मोह बढ़ानेवाला हो तो वह व्यक्ति दूषित चित्त से समाधिस्थ होता है। दूसरा व्यक्ति ऐसे आलंबन अपनाता है, जो कि राग, द्वेष

और मोह को क्षीण करनेवाले हैं तो पहले की अपेक्षा यह दूसरा व्यक्ति अधिक उत्तम है। दूषित चित्त की एकाग्रता द्वारा मनोबल प्राप्त करके भी अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ हासिल की जा सकती हैं। इनके बल पर सामान्य लोगों को चकाचौंध कर देनेवाले चमत्कार प्रदर्शित किए जा सकते हैं, परंतु इसे धर्म मान लेना खतरनाक है। यह आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्ति ने सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं, वह धर्मवान हो। अनेक दु:शील व्यक्ति चमत्कार प्रदर्शित करते हुए देखे जाते हैं। अत: चमत्कारों के आधार पर धर्म का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। करते हैं तो मूल्यांकन गलत होता है। समाधि के साथ शील की भूमिका अनिवार्य है।

शुद्ध समाधि के मार्ग पर भी विभिन्न उपलब्धियाँ होती हैं। कभी हम लगातार तीन घंटे एक आसन पर बैठे रह जाते हैं। परंतु आसन-सिद्धि साधना का अंतिम लक्ष्य नहीं है। इसी प्रकार एकाग्रता के अभ्यास के दौरान कभी-कभी बंद आँखों के सामने हम प्रकाश, ज्योति, रूप, रंग, आकृतियाँ, दृश्य आदि देखने लगते हैं। कभी-कभी कानों से कोई अपूर्व शब्द सुनते हैं, नाक से कोई अपूर्व गंध सूँघते है, जीभ से कोई अपूर्व रस चखते हैं, शरीर से किसी अपूर्व स्पर्श का अनुभव करते हैं और इन भिन्न-भिन्न अतींद्रिय अनुभूतियों को दिव्य ज्योति, दिव्य शब्द, दिव्य गंध, दिव्य रस और दिव्य स्पर्श कहकर इनको आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने लगते हैं तो भटक ही जाते हैं। इसी प्रकार समाधि को अभ्यास करते हुए कभी साँस सूक्ष्म होते-होते अनायास रुक जाती है। स्वत: कुंभक होने लगता है। अभ्यास करते-करते विचारों और वितर्कों का ताँता मंद पड़ने लगता है और कभी निर्विचार, निर्विकल्प अवस्था आ जाती है। एकाग्रता बढ़ती है तो भीतर प्रीति-प्रमोद जागता है, आनंद की लहरें उठने लगती हैं। मन और शरीर रोमांच-पुलक से भर जाता है। बहुत हल्कापन महसूस होता है। परंतु इन भिन्न-भिन्न प्रिय अनुभूतियों को ही सब कुछ मानकर इनकी अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या करने लगें तो भी भटक जाते हैं। ये अनुभूतियाँ इस लंबे मार्ग पर मील के पत्थरों जैसी है। इनमें से किसी के साथ चिपक जाए तो वह पत्थर गले का भार बन जाता है। आगे बढ़ना मुश्किल कर देता है। ये अनुभूतियाँ धर्मशालाएँ जैसी हैं। इनमें से किसी को अंतिम लक्ष्य मानकर उसमें टिक जाएँ जो आगे के

रास्ते पर चलना ही नहीं हो सकता। यात्रा बंद हो जाती है। पहले से लेकर आठवें ध्यान तक की सभी समाधियाँ एक-से-एक अधिक उन्नत हैं, परंतु आठों ध्यान में पारंगत हो जाने पर भी आध्यात्मिक क्षेत्र में संपूर्णता नहीं मानी जाती। आठों समाधि समापत्तियों की सहज अनुभूति करनेवाले साधक को भी प्रज्ञावान होना नितांत आवश्यक है।

प्रज्ञावान, प्रज्ञावान में भी भेद है। कोई प्रज्ञावान ऐसा है, जिसने श्रुतमयी प्रज्ञा हासिल की है; यानी पढ़-सुनकर प्रज्ञा की जानकारी प्राप्त की है। दूसरा ऐसा है, जिसने चिंतनमयी प्रज्ञा भी हासिल की है, यानी जो पढ़ा-सुना उसे चिंतन-मनन द्वारा बुद्धि की कसौटी पर कसकर युक्तिसंगत मानकर ही स्वीकार किया है। पहले से दूसरा प्रज्ञावान निश्चित रूप से उत्तम है। परंतु पहले और दूसरे से तीसरा प्रज्ञावान कहीं अधिक उत्तम है, जो कि भावनामयी प्रज्ञा हासिल करता है, यानी प्रत्यक्ष अनुभूतियों के बल पर स्वयं अपनी प्रज्ञा जगाता है।

हमने अपनी भावनामयी प्रज्ञा जाग्रत की है अथवा परायी प्रज्ञा के बल पर केवल बुद्धि -रंजन किया है, इसकी स्वयं जाँच करते रहना चाहिए। प्रज्ञा के नाम पर यदि केवल बुद्धि -रंजन हुआ होगा तो जीवन की विषम परिस्थितियों में मन उत्तेजित, उद्वेलित हुए बिना नहीं रहेगा। भावनामयी प्रज्ञा का जीतना अभाव होगा, मानसिक असमता उतनी ही अधिक होगी। भावनामयी प्रज्ञा के बल पर जो व्यक्ति, वस्तु, स्थिति, जैसी है उसको जब हम वैसे ही, उनके सही स्वरूप में और उसके सही गुण-धर्म स्वभाव में, देखते हैं तो अपने मन का संतुलन बिगड़ने नहीं देते। अंतर्मन में समाई हुई दौर्मनस्य की विभिन्न ग्रंथियाँ स्वत: खुलने लगती हैं। चित्त के दूषण दूर होते हैं। उसमें निर्मलता आती है। निर्मलता आती है तभी संकीर्णता के स्थान पर उदारता, दुर्भावना के स्थान पर सद्भावना, द्वेष के स्थान पर प्यार, ईर्ष्या के स्थान पर मोद और वैर के स्थान पर मैत्री जागती है। ये सारे सद्गुण जीवन में आ रहे हैं या नहीं। हमारे रोजमर्रा के व्यवहार में प्रकट हो रहे हैं या नहीं? इसी मापदंड से धर्म के क्षेत्र में हम अपनी उन्नति को मापें। जैसे-जैसे प्रज्ञा में स्थित होते जाएँगे, वैसे-वैसे स्वभाव से शील पुष्ट और समाधि सुदृढ़ होती जाएगी। मन वश में रहने लगेगा। सदाचार जीवन का सहज स्वभाव बन जाएगा। उसके लिए कोई

विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। अपने अंधे स्वार्थ के लिए औरों की हानि करने की संकीर्ण बुद्धि दूर होगी। अपने सुख-साधन औरों को बाँटकर भागीदार बनाने की दानवृत्ति सहजभाव से जीवन का अंग बन जाएगी। इस प्रकार जैसे-जैसे धर्म की सर्वांगीण पुष्टि होने लगेगी, वैसे-वैसे अनेक रूढ़ियाँ, जो कभी धर्म साधन के रूप में प्राप्त हुई थीं और जिन्हें नासमझी के कारण हमने सिद्धि मानकर छाती से चिपका लिया था, साँप की केंचुली की तरह बिना किसी कष्ट और प्रयास के अपने-आप छूटती चली जाएँगी, और जो नई त्वचा आएगी, वह निष्प्राण नहीं , बल्कि सजीव धर्म से उर्मिल होकर आवेगी।

त्वचा का अपना महत्त्व है; परंतु निष्प्राण हो जाए तो भी उसे चिपकाए रखना नासमझी है। छिलकों का अपना महत्त्व है; परंतु उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाए तो भी मोहवश उन्हें चिपकाए रखना नासमझी है। शुद्ध प्रज्ञा पुष्ट होती है तो हर वस्तु का उचित ही मूल्यांकन होता है। लुभावने तर्कजाल से प्रभावित होकर किसी उपयोगी वस्तु को नष्ट नहीं कर देते और न ही परंपराओं के प्रति भावावेशमयी आसक्तियों के कारण किसी निकम्मी वस्तु को गले से लगाए रखते हैं। पुष्ट हुई प्रज्ञा से ऐसा विशुद्ध विवेक जागता है, जिसमें न थोथा तर्कजाल टिक सकता है और न अंधभावावेश। धर्म के प्रत्येक अंग का सही-सही मूल्यांकन होने के कारण धर्म का सर्वांगीण और समुचित विकास हाने लगता है।

सर्वांगीण और समुचित विकास न हो तो हम अपना स्वास्थ्य खो बैठते हैं। शरीर का कोई एक ही अंग जरूरत से ज्यादा विकसित हो जाए और बाकी सारा शरीर अविकसित रह जाए तो सारे शरीर के साथ-साथ वह विकसित अंग भी रोगी ही माना जाता है। इसी प्रकार धर्म-शरीर का भी कोई अंग इतना अधिक विकसित हो जाए कि अन्य सभी अंगों के विकास में रुकावट पैदा कर दे तो संपूर्ण धर्म-शरीर तो रोगी हो ही जाता है, वह अंग-विशेष भी रुग्ण ही माना जाता है। अत: समग्र धर्म-शरीर को स्वस्थ-सबल रखने के लिए आवश्यक है कि धर्म के सभी अंगों का समुचित विकास हो। इस निमित्त सभी अंगों का विवेकपूर्ण समुचित मूल्यांकन होते रहना आवश्यक है।

माला-तिलक जैसे बाह्याडंबर, नदी-स्नान, तीर्थाटन जैसे बाह्य कर्मकांड अथवा आत्मवाद, अनात्मवाद जैसी बुद्धि-रंजनीय दार्शनिक मान्यताएँ आदि की तो बात ही क्या, यदि हम एक अच्छे व्रत का पालन करते हुए अथवा किसी शील का पालन करते हुए उसकी भी अतिरंजना करने लगें तथा शुद्ध धर्म के अन्य अंगों की अवहेलना करते हुए उसी से परामर्श यानी चिपकाव करने लगें तो यही शील-व्रत परामर्श हमारे लिए भयंकर रोग साबित हो जाएगा। इससे बचने के लिए और शुद्ध धर्म के सर्वांगीण और समुचित विकास के लिए ही बात का सही-सही उचित-उचित मूल्यांकन होते रहना आवश्यक है। धर्ममय मंगल-जीवन की यही कल्याण कुंजी है।

4 / सत्य ही धर्म है

सत्य के अतिरिक्त धर्म की और क्या व्याख्या हो सकती है ? सत्य ही धर्म है, असत्य अधर्म। यहाँ सत्य का अर्थ केवल वाणी की सच्चाई ही नहीं, बल्कि धर्म शब्द की भाँति इसका भी वही व्यापक अर्थ है—यानी स्वभाव, गुण, नियम, विधान। प्रकृति के अपने गुण-स्वभाव हैं, नियम-विधान हैं। उन नियम-विधानों की, उन धर्मों की, सच्चाई से सारा सजीव, निर्जीव चराचर विश्व बँधा हुआ है। इस व्यापक अर्थ में सत्य और धर्म पर्यायवाची शब्द हैं।

प्रकृति के स्वभाव की सच्चाई हम जितनी-जितनी समझें और स्वीकारें, उतने-उतने धर्म को ही स्वीकारते हैं। सच्चाई तीन प्रकार से स्वीकारी जाती है। स्वीकारने का पहला कदम श्रद्धा की भूमिका से आरंभ होता है। किसी बुद्ध ने, ज्ञानी ने, अपने बोधि-ज्ञान द्वारा मिली इस सच्चाई को शब्दों में व्यक्त किया। हमारे मन में उस महापुरुष के प्रति श्रद्धा जागी और हमने उसके शब्दों को स्वीकार किया। यह शब्द-सत्य को स्वीकारना हुआ। परंतु शब्द-सत्य में सच्चाई की परिपूर्णता नहीं हुआ करती। जब किसी अनुभूतिजन्य ज्ञान को शब्दों पर उतारा जाता है, यानी जब कोई सत्यद्रष्टा, ऋतुद्रष्टा ऋषि, शब्द-स्रष्टा बनता है जो सत्य का कुछ अंश नष्ट हो ही जाता है। इसलिए शब्द-सत्य आंशिक सत्य ही होता है; क्योंकि शब्द और भाषा की अपनी सीमाएँ हैं। उन्नत-से-उन्नत भाषा भी आंतरिक अनुभूतियों को स्पष्टतया व्यक्त कर सकने में असमर्थ रहती है और फिर सत्य-शोधकों की कुछ अनुभूतियाँ ऐसी

हैं, जो वर्णनातीत होती हैं। शब्दों द्वारा उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके बारे में नेति-नेति ही कहा जाता है। कहनेवाला केवल इतना ही कहकर रह जाता है कि ऐसा तो नहीं है, ऐसा तो नहीं ही है। तीन आयामों को देखने-समझनेवाले लोगों को चौथे आयाम की जानकारी किन शब्दों में कराई जाए? इंद्रियातीत अवस्था की अनुभूति इंद्रियों के माध्यम से कैसे समझाई जाए? समझाने की कोशिश करें तो कोई समझे भी कैसे? अत: हर समझदार आदमी के लिए इन अनुभवों की चर्चा करते हुए नकारने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। ऐसा परम सत्य कभी शब्द-सत्य बन ही नहीं सकता।

इंद्रियातीत अनुभूति के लिए तो शब्द असमर्थ हैं ही, परंतु एंद्रिय अनुभूतियों को भी शब्दों में ठीक-ठीक नहीं ढाला जा सकता। सूक्ष्मतर आंतरिक अनुभूतियाँ अधिकतर गूँगे का गुड़ ही बनी रह जाती हैं। व्यक्त करने के सभी प्रयत्न अधूरे रहते हैं। भाषा की सीमाओं के अतिरिक्त बोलने तथा लिखनेवाले की और उससे भी अधिक सुनने और पढ़नेवाले की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं, जो कि शब्द-सत्य के पूर्ण सत्य बनने में बाधक होती है। कहनेवाला जो कहना चाहता है, उसे ठीक-ठीक कह न सके और जो कहे, वह जिस अर्थ में कहा गया है, सुननेवाला उस अर्थ में समझ न सके, यही शब्द-सत्य की अपूर्णता है।

परंतु फिर भी अनुभूति-जन्य सत्य को शब्दों में उतारने के प्रयत्न होते ही हैं। कुछ अंशों में उनका लाभ हुआ है और कुछ अंशों में हानि भी। जहाँ उन्हें खुले दिमाग से अपनाया गया, वहाँ लाभ हुआ; परंतु जहाँ उन्हें पूर्ण सत्य मानने की हठधर्मी हुई, वहाँ सांप्रदायिक अंधविश्वास और अंध-मान्यताओं को बढ़ावा मिला। लोगों के दिमाग पर ताले लगे। सत्य अनुसंधान के क्षेत्र में मानव की प्रगति रुकी।

परंतु आखिर मानव तो मनु पुत्र है न? मन से उपजा है। मनन-चिंतन करके ही किसी सत्य को स्वीकारना उसका जन्मजात सहज स्वभाव है। सांप्रदायिक नेताओं द्वारा उसके चिंतन-मनन की प्रतिभा को कुंठित कर उसे जड़ भरत बनाए रखने के हजार प्रयत्नों के बावजूद मानव-समाज का एक प्रबुद्ध वर्ग शब्द-सत्य को जाँचने-परखने, बुद्धि को तराजू पर तौलने, तर्क की कसौटी पर कसने और युक्तियों के हथौड़ों की चोट लगाने का काम

करता ही रहा है। इसी से सत्य का एक दूसरा स्वरूप उजागर हुआ, जिसे अनुमान-सत्य या बौद्धिक-सत्य कहा गया। हर सच्चाई को बुद्धि की भट्टी में तपाया जाना चाहिए। उसकी जाँच में दिमाग लगाया जाना चाहिए। युक्तियुक्त और तर्कसंगत लगे तो ही स्वीकारना चाहिए। इसी नीति के कारण सत्य के अनुसंधान के क्षेत्र में मानव की प्रगति आरंभ हुई। अंधविश्वासों, अंध-मान्यताओं और दकियानूसी कठमुल्लेपन को गहरी चोटें लगीं। मानवीय विकास का रास्ता खुला। अंधश्रद्धा और भक्तिभावावेश के घुटन-भरे माहौल से और शब्द-सत्य को संपूर्ण सत्य मानने के दुराग्रह-भरे घने कुहरे से बाहर निकलने में सफलता मिली। किसी बात को आँख मूँदकर मान लेने की आदत छूटी। ऐसा क्यों? यह जानने की उत्सुकता बढ़ी।

परंतु जिस प्रकार शब्द-सत्य की मान्यता अधिकत: अंधविश्वासों से दूषित हो उठी, उसी प्रकार अनुमान यानी बौद्धिक सत्य की मान्यता से बहुधा शुष्क तर्क-वितर्क के घने जंगल में ही भटककर रह गई। वैसे भी इन दोनों से यानी शब्द और अनुमान से सत्य का आभास ही हो सकता है, अनुभूति नहीं। सत्याभास यानी धर्माभास और जहाँ धर्माभास होता है वहाँ धर्म के नाम पर भ्रांति फैलाने की ही आशंका रहती है। सत्य की अनुभूति ही धर्म की सही अनुभूति है। अत: इन दोनों के आगे की कल्याणकारी मंजिल प्रत्यक्ष सत्य की मंजिल है। प्रत्यक्ष सत्य यानी स्वानुभूतियों के स्तर पर प्रगट हुआ सत्य। आध्यात्मिक सत्य के सूक्ष्म आभ्याँतरिक अनुसंधान की यही सही यात्रा है। यही धर्म की गहरी खोज है। इन प्रत्यक्ष अनुभूतियों द्वारा जितना-जितना सत्याँश प्रकट होता है, मानव उतना-उतना धर्म-पथ पर आगे बढ़ता है।

परंतु अनुभूतियों के स्तर पर सत्य-धर्म का स्वयं अन्वेषण कर उसे स्वीकारना कठिन काम है, जबकि अंधविश्वास के स्तर पर किसी पराए कथन को स्वीकार कर लेना सरल है। इसीलिए मानव जाति के लंबे इतिहास में अधिकतर शब्द-सत्य के आधार पर अंधविश्वासी संप्रदाय ही पनपे। कुछ थोड़े-से लोगों ने अंधविश्वास को ठुकराकर बुद्धि का प्रयोग किया, परंतु वे भी बहुधा अनुभूति के क्षेत्र में शून्य रह जाने के कारण बौद्धिक मत-मतान्तरोंवाले संप्रदाय के प्रणेता अथवा अनुयायी ही होकर रह गए। जहाँ आंतरिक अनुभूति होती है, वहाँ सांप्रदायिक भेदभाव के लिए गुंजाइश कम

रहती है, अन्यथा शब्दों और बौद्धिक तर्क-वितर्कों की भिन्नता विभिन्न संप्रदायों का पोषण करती है। आंतरिक अनुभूतियाँ भी निष्पक्ष सत्य-शोधन हेतु हों तो शुद्ध धर्म को बल देती हैं, अन्यथा पूर्वाग्रह-पूर्ण हों तो ये भी मत-मतांतरों को बढ़ावा देंगी।

वस्तुतः सत्य तो एक ही है। भिन्न-भिन्न कैसे होगा? समग्र प्रकृति का विधान एक ही है, अलग-अलग कैसे होगा? परंतु किसी की प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतरा हुआ यह विधान जब वाणी का चोला पहनता है तो ये चोले अवश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। भाषा, शब्द, वक्ता भिन्न-भिन्न होने के कारण सत्य भी भिन्न-भिन्न लगते हैं। जब कोई भक्त किसी महापुरुष द्वारा अनुभूत सत्य को स्वयं अपनी अनुभूति पर तो उतारता नहीं, परंतु अंधश्रद्धा-जन्य भावावेश के स्तर पर उसकी वाणी को स्वीकृति देकर ही अपने-आपको धन्य मान बैठता है तो उस वाणी और उन शब्दों के साथ उसका गहरा चिपकाव हो जाना स्वाभाविक है। उसे वे शब्द ही सत्य नजर आते हैं, बाकी सब मिथ्या। यहीं से संप्रदाय की बुनियाद पड़नी शुरु होती है। सत्य का साक्षात्कार करनेवाला किसी संप्रदाय से कैसे बँधेगा? परंतु शब्दों में लोट-पलोट लगानेवाला संप्रदाय का पोषण करता है। पहले के लिए भाषा महज माध्यम है, अतः गौण है; परंतु दूसरे के लिए भाषा और शब्द ही प्रमुख हैं।

यदि मैं हिंदू संप्रदाय में हूँ तो 'यम-नियम' शब्द का प्रयोग हुआ देखकर प्रसन्न उठता हूँ; बौद्ध हूँ तो 'पंचशील', जैन हूँ तो 'अणुव्रत' और ईसाई हूँ तो 'टेन कमांडमेंट्स' के शब्दों को सुनकर गर्व से छाती फुला लेता हूँ। लेकिन धर्म की वास्तविक सच्चाई जीवन में उतरी या नहीं, शील-सदाचार जीवन का अंग बना या नहीं, अपनी संकीर्ण सांप्रदायिक वृत्ति के कारण मैं इसे कतई महत्त्व नहीं देता। केवल शब्दों को ही 'मेरा धर्म' 'तेरा धर्म' कहकर अच्छे-बुरे की संज्ञा देता रहता हूँ।

'सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र्य' इन शब्दों का प्रयोग किसी भी जैन को कर्णप्रिय लगता है। इसी प्रकार 'शील, समाधि, प्रज्ञा' किसी बौद्ध को, 'स्थितप्रज्ञ, अनासक्त' किसी गीता-भक्त को और 'होली इनडिफरेंस' का प्रयोग किसी ईसाई को। वैसे ही किसी को 'धर्म' शब्द सुनते ही लगता है मानो कानों में चाँदी की घंटियाँ बज रही हों और उसी व्यक्ति को 'धम्म'

शब्द सुनते ही लगता है मानो छाती पर मूसलों को धमाधम्म धमाके लग रहे हों। इसके ठीक विपरीत किसी दूसरे व्यक्ति को 'धम्म' शब्द में देव-दुंदुभि जैसा श्रुति-मधुर मंगल-घोष सुन पड़ता है और 'धर्म' शब्द उसे काँटे की तरह चुभता है। कैसी आसक्ति पैदा कर ली है हमने शब्दों के साथ! इसी कारण इनके अर्थों की ओर ध्यान नहीं जाता और ध्यान चला भी जाए तो वह उतना ही बेमाने है, जबकि अर्थ जीवन में उतरते नहीं। संप्रदाय और धर्म में यही मौलिक भेद है। संप्रदाय शब्दों को महत्त्व देता है और धर्म अर्थों को तथा उन्हें धारण करने को। हम अपने-आपको हजार संप्रदाय-विहीन कहें, परंतु सच्चाई यही है कि हमारे लिए संप्रदाय प्रमुख हो गए हैं; इसीलिए शब्द प्रमुख हो उठे हैं, अर्थ गौण। प्रत्यक्ष अनुभूति तो लुप्तप्राय हो गई है। जिसे देखो, शब्द-सत्य के पीछे पागल है। बहुत थोड़े हैं, जो अनुमान-सत्य की ओर बढ़ते हैं। प्रत्यक्ष सत्य तक जाने की किसी को फुर्सत ही नहीं और कोई उसकी आवश्यकता भी महसूस नहीं करता।

हम हिंदुओं की बाँछें खिल जाती हैं,जबकि कोई गैर-हिंदू गीता का कोई श्लोक अपने भाषण में उद्धृत करता है। इसी प्रकार हम बौद्धों की व जैनियों की हृदयतंत्री के तार बजने लगते हैं, जबकि कोई अबौद्ध या अजैनी धम्मपद या महावीर-वाणी को अपने भाषणों में उद्धृत करता है। कैसा चिपकाव पैदा कर लिया है हमने। अपने-अपने संप्रदाय की वाणियों से। जिस परंपरा और परिवेश में हम जन्मे और पले हैं, उसके धर्म-ग्रंथों के प्रति श्रद्धा, आदर और झुकाव होने में कोई दोष नहीं, क्योंकि उन्हीं से हम प्रेरणा और मार्ग-दर्शन पाते हैं; परंतु दोष आसक्ति से है, चिपकाव से है। यह हमारे चिपकाव का ही परिणाम है कि यदि वही सच्चाई कोई अन्य संप्रदायवाला अपनी भाषा में बोले और अपने महापुरुष द्वारा कही हुई बताए तो हमारा मन कितना चिड़चिड़ा हो उठता है? सच्चाई पराई-सी लगती है। इस चिपकाव का मुख्य कारण यही है कि हमारी श्रद्धा बाँझ रह गई। उसका कोई फल नहीं हुआ। हमने अपने धर्म-ग्रंथों की सच्चाई को महज श्रद्धा तक ही सीमित रखा। स्वानुभूतियों से उसका स्वाद चखा नहीं। अतः हमारे लिए तो सदा शब्द ही सत्य रहे हैं, और जिन शब्दों में यह सच्चाई कही गई है, वे हमारी परंपरा के हैं नहीं, इसीलिए हमारे लिए शब्दों के साथ-साथ सच्चाई भी पराई हो गई है। परंतु

जब हम उसी सच्चाई का स्वयं साक्षात्कार कर लेते हैं तो उसमें परायापन नहीं रह जाता। सत्य तो सत्य है, अलग-अलग कैसे होगा? संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिब्रू, अरबी आदि विभिन्न भाषाओं के शब्द, शब्द-सत्य माननेवालों को अलग-अलग लगेंगे। परंतु इससे जरा आगे बढ़ें और थोड़ा-सा भी बुद्धि का प्रयोग करें तो यह बौद्धिक अनुमान सत्य कई एक गुत्थियों को खोलने में सहायक होगा। सत्य से संबंध रखनेवाली अनेक विभिन्नताएँ दूर करेगा। परंतु जब स्वयं अनुभूतियों पर उतारने लगेंगे तो सच्चाई की सारी विभिन्नताएँ शनैः-शनैः दूर होंगी ही। सच्चाइयों में भेद नजर नहीं आएगा, बशर्ते कि अनुभूति का प्रयोग पूर्वाग्रह -विहीन हो और सत्य-शोधन के लिए ही हो।

सत्य न अपना होता है, न पराया। न पुराना होता है, न नया। न बूढ़ा होता है, न जवान। न बर्मी होता है, न भारतीय। न हिंदू होता है न मुसलमान। सत्य सत्य है—सदा एक-सा, सर्वत्र एक-सा परंतु किसी मान्यता को जब कोरी कपोल कल्पनाओं पर आश्रित कर सत्य मानने लगते हैं तो विभिन्नता आती ही है। निष्पक्ष अनुभूतिजन्य सत्य में भेद नहीं हुआ करता। शब्द-सत्य और अनुमान सत्य की सीमाओं को लाँघकर जब हम प्रत्यक्ष सत्य को महत्त्व देने लगते हैं तो मिथ्या कल्पनाओं की जड़ें हिलने लगती हैं। शुद्ध धर्म प्रतिष्ठापित होने लगता है। जो अनुभूतियों पर उतरे वही सत्य, ऐसा मानकर चलना धर्म के रास्ते पर चलना है। सत्य के, ज्ञान के, मुक्ति के रास्ते पर चलना है। ऐसे माहौल में अंधविश्वास टिक नहीं सकता। अनृत, झूठ, पनप नहीं सकता। सत्य धर्म अनुसंधान का विषय है, अंधानुकरण का नहीं।

परंतु जहाँ संप्रदाय पनपता है, वहाँ सांप्रदायिक नेता सत्य को समीप नहीं आने देते। सच्चाई को तर्क की कसौटी पर भी कसने नहीं देते, अनुभूतियों पर उतारना तो बहुत दूर की बात है। कहते हैं, धर्म में अक्ल का दखल नहीं। कैसा धर्म है यह जिसमें अक्ल को स्थान न हो? बिना अक्ल, बिना बोधि का धर्म, धर्म कैसे हुआ? हाँ, यह ठीक है कि संप्रदाय में अक्ल की दखल नहीं होती, क्योंकि अक्ल आते ही संप्रदाय के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। वहाँ तो अंधविश्वास ही पनपता है, अनृत के धरातल पर अधर्म ही पनपता है, धर्म नहीं पनप सकता। जब आदमी अपने दिमाग को कैद कर लेता है, तो सच्चाई का अनुसंधान स्वतः बंद हो जाता है। धर्म के पाँव कट जाते हैं, उसकी आँखें

फूट जाती हैं और वह लँगड़ा और अंधा होकर संप्रदाय बन जाता है। आदमी ने तब-तब सत्य की शोध करनी छोड़ी जब-जब कि 'बाबा वचन प्रमाण' वाला गुरुडम उसके सामने दीवार बनकर खड़ा हो गया।

किसी भी संकीर्ण बुद्धिवाले सांप्रदायिक नेता को यही भय बना रहता है कि मेरे बाड़े की एक भी भेड़ यह बाड़ा तुड़ाकर किसी दूसरे में न जा मिले। मेरे सभी अनुयायियों को भेड़-बकरियों और गाय-बैलों का-सा अंधानुकरणवाला स्वभाव बना रहे, इसीलिए वह उन पर अपनी सांप्रदायिक मान्यताओं की गहरी वारुणी चढ़ाए रखता है। अनेक बेतुकी और असंगत बातों को मानने के लिए मजबूर करता रहता है। न माने तो नारकीय यंत्रणाओं का आतंक और माने तो मुक्ति-मोक्ष का प्रलोभन देता रहता है। उसकी नजरों में धर्म भले छूटे, पर संप्रदाय बना रहे। क्या दशा हो गई है हम मनु-पुत्रों की? मनन-चिंतन का स्वभाव क्या खो बैठे, अंधविश्वास का भूत सिर पर सवार कर लिया। हम अपने-अपने धर्म-ग्रंथों को बिना सोचे-समझे सत्य मानें और दूसरे धर्म-ग्रंथों को बिना पढ़े ही असत्य मानें, ऐसा भावावेश हमारे भीतर कूट-कूटकर भरा गया है। हमें धर्म से कोई लेना-देना नहीं। हमारे लिए संप्रदाय ही प्रमुख है। बुरे-से-बुरा अधार्मिक दुराचारी व्यक्ति भी यदि हमारे संप्रदाय में है तो भला, अन्यथा अच्छे-से-अच्छा धार्मिक सदाचारी व्यक्ति भी पराए संप्रदाय में है, तो हमें आँखों नहीं सुहाता।

हम अपने माँ-बाप से विरासत में जैसे अपनी शक्ल-सूरत पाते हैं, बोली-भाषा पाते हैं, वैसे ही अंधविश्वास और अंधमान्यताएँ पाते हैं। अंध-भक्ति का भावावेश पाते हैं। सांप्रदायिकता का वह आतंक प्रलोभन भी पाते हैं, जो हमारी अंध-मान्यताओं की जकड़ को मजबूत बनाता है। परंतु साथ-साथ मानवीय बौद्धिक संपदा के बीज भी पाते हैं। हम अपने माँ-बाप से प्राप्त हुई शक्ल-सूरतें नहीं बदल सकते, पर इन मान्यताओं को अपनी बुद्धि का प्रयोग से और अपनी अनुभूतियों के बल पर अवश्य बदल सकते हैं। जितनी काम की हों, उन्हें रख सकते हैं, जो निकम्मी हो, उन्हें उखाड़ फेंक सकते हैं। अक्ल का बिल्कुल इस्तेमाल न करें, स्वानुभूतियों का जरा भी अभ्यास न करें तो बिना समझे ही उन अंध-मान्यताओं को अपनी शक्ल और सूरत की तरह वैसी ही बनाए रखने की हर चंद कोशिश करते हैं।

सत्य-धर्म के अनुसंधान में, अंध-मान्यताओं के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता। जहाँ-जहाँ भी अंध-मान्यताओं का आग्रह है, वहाँ धर्म नहीं, संप्रदाय है, और समझना चाहिए कि कोई हमें स्वार्थवश या अज्ञानवश अपने बाड़े में बाँधे रखना चाहता है। सत्य और धर्म के लिए विचार, विमर्श और वाणी का स्वातंत्र्य नितांत आवश्यक है। प्रत्यक्ष अनुभूतियों का अभ्यास उससे भी अधिकआवश्यक है। इन पर बेड़ियाँ लगी हों तो समझो, हम सत्य और धर्म से दूर भटक रहे हैं।

अनुमान और प्रत्यक्ष सत्य का गठबंधन बड़ा कल्याणकारी होता है। जो अनुभव करें, उसे बौद्धिक स्तर पर समझें और जिसे बौद्धिक स्तर पर समझें, उसे अनुभूतियों के स्तर पर जानें, यही सत्य-शोध है। इस सत्य-शोध में शब्द-सत्य भूमिका और मार्ग-निर्देशन का कार्य करता है, बशर्ते कि हम उसका उपयोग खुले दिमाग से करें। लेकिन जब सत्य का शोधक किसी पूर्व मान्यता का पक्षधर हो जाता है तो सत्य का अनुसंधान छूट जाता है। फिर तो जीवन भर येन-केन-प्रकारेण अपनी मान्यताओं को सत्य सिद्ध करने में ही सारा परिश्रम लगा देता है।

किसी महापुरुष की अनुभूति-सिद्ध वाणी हो, उस पर हमारी बुद्धि की कसौटी की परख हो और उसके आधार पर हमारा प्रत्यक्षानुभूति का अभ्यास हो तो सत्यधर्म का रथ ठीक दिशा में आगे बढ़ता है और गंतव्य तक पहुँचना है। सत्य के इन तीनों महत्त्वपूर्ण अंगों का ठीक-ठीक उपयोग करते हुए हम असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, बंधन से मुक्ति की ओर, बढ़ते चलें। इसी में हम सबका कल्याण, मंगल, भला समाया हुआ है।

5/ सम्यक् धर्म

सम्यक् माने ठीक, सही, यथार्थ, सत्य। अत: सम्यक् धर्म माने सत्य धर्म, सत् धर्म, सद्धर्म– ऐसा धर्म, जिसमें मिथ्यात्व को कहीं स्थान नहीं, जिसकी कल्पना से कोई वास्ता नहीं। यदि कोई उपदेशक किसी मिथ्या बात को, मिथ्या ही क्यों, सही बात को भी, अंध-श्रद्धा से महज कल्पना के स्तर पर मान लेने का आग्रह करे तो समझो, वह सम्यक् नहीं , मिथ्या धर्म का उपदेश कर रहा है।

सम्यक् माने शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष, निष्कलुष। अतः सम्यक् धर्म माने शुद्ध धर्म, ऐसा जिसमें पाप के लिए किंचित भी स्थान नहीं, जिसका जोर-जबरदस्ती से कोई वास्ता नहीं। धर्म निर्मल होता है तो सहज स्वीकार्य होता है, क्योंकि न्यायसंगत होता है, युक्तिसंगत होता है। कोई उपदेशक कहे कि मेरी बात ननु-नच किए बिना, तर्क-वितर्क किए बिना, अक्ल की दखल दिए बिना, आँख मूँदकर इसलिए मान लो कि न मानने पर कोई अदृश सत्ता तुम्हें असह्य नारकीय यंत्रणा का दंड देगी और मान लेने पर प्रसन्न होकर तुम्हारे सारे पाप भुला देगी और स्वर्गीय सुख का वरदान देगी तो समझो, वह सम्यक् नहीं, मिथ्या धर्म की छलना है।

सम्यक् माने अक्षत, अखंड,अविकल, पूर्ण। सम्यक् धर्म माने परिपूर्ण, परिपक्व धर्म। धर्म की परिपूर्णता, परिपक्वता उसे पूरी तरह धारण कर लेने में है। महज पठन-पाठन, चर्चा-परिचर्चा धर्म की अविकल्प परिपूर्णता नहीं है। बुद्धि-क्रीड़ा और बुद्धि-रंजन धर्म की पूर्ण परिपक्वता नहीं है। पढ़े -सुने धर्म का चिंतन-मनन करके उसे सम्यक् रूपेण धारण कर लेना, जीवन का अंग बना लेना, सहज स्वभाव बना लेना ही उसकी परिपूर्णता है, परिपक्वता है। यही धर्म का सम्यकत्व है। कोई उपदेशक कहे कि मेरी वाणी को सुन लेने से अथवा अमुक दार्शनिक सिद्धांत को स्वीकार कर लेने मात्र से तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी, धर्म धारण न भी करो तो भी कोई अदृश्य सत्ता इसी बात पर तुम पर रीझकर तुम्हारे सारे पाप धो देगी, तो समझो, फिर धर्म सम्यक् नहीं, मिथ्या है, मायावी है।

सत्य, स्वच्छ धर्म जीवन में उतरना ही चाहिए। तो ही सम्यक् है, कल्याणप्रद है, अन्यथा भ्रामक है, दुखदायी है। जिस किसी को धर्म के सम्यक् स्वरूप का जरा भी बोध हो जाता है, वह सदैव इस भ्रांति से बचने का प्रयत्न करता है। धर्म का रूढ़ि-पालन और बुद्धि-किलोल का विषय नहीं बनने देता। सारा बल धारण करने के अभ्यास में ही लगाता है। इस संबंध में हमारे देश की एक बहुत उज्ज्वल पुरातन कथा है। कुरु प्रदेश का एक बालक, राजकुमार युधिष्ठिर। अन्य राजकुमारों के साथ उसे भी गुरु से दो छोटे-छोटे वाक्यों में धर्म के उपदेश मिले। औरों ने उन वाक्यों को रटकर गुरु महाराज की शाबाशी शीघ्र हासिल कर ली, पर उस बालक के लिए तो

सम्यक् धर्म ही सही धर्म था। वह उसे धारण करने के अभ्यास में दिन बिताने लगा और इसी कारण नासमझ गुरु के कोप का भाजन हुआ। दंड मिला सम्यक्मार्गी सुबोध राजकुमार को, जबकि दोषी था दुर्बोध आचार्य। पर बेचारा आचार्य भी क्या करता! रूढ़ियों का, परंपराओं का, शिकार था। छिलकों को धर्म मानने को आदी था। उसके लिए तो धर्म के ये छिलके ही अधिक मूल्यवान थे। इन राजकुमारों को धर्म के कुछ बोल सिखा दूँगा। वे रट कर, याद कर लेंगे, घर पर माता-पिता पूछेंगे—पाठशाला में क्या पढ़ा, तो विद्यार्थी रटे हुए उन धर्म-वाक्यों को तोते की तरह सुना देंगे। मां-बाप खुशी में फूल उठेंगे, आचार्य का श्रम सफल माना जाएगा, वह पुरस्कृत होगा,आजीविका सुगमतापूर्वक चलती रहेगी। धर्म पढ़ने-पढ़ाने का यही मूल्य था उसकी नजरों में। धर्म का यह ओछा और छिछला मूल्यांकन न जाने कब से चला आ रहा है। आज भी कायम है और लगता है, भविष्य में भी चलता ही रहेगा। पढ़ना, सुनना और याद कर लेने का काम सरल है, पर जीवन में उतारने का काम कठिन है। अत्यंत कठिन है। इस कठिन को कोई नहीं करना चाहता। यही कारण है कि हम धर्म के नाम पर अधिकतर मिथ्याधर्म के ही शिकार बने रहते हैं। सम्यक् धर्म हमसे कोसों दूर रहता है। समीप आए भी तो कैसे? जब मिथ्या को ही सम्यक् मान बैठते हैं तो मिथ्या प्रमुख हो जाता है, सम्यक् गौण। अतः सम्यक् को समीप लाने का कोई प्रयत्न भी तो नहीं करते।

काया, वाणी और चित्त के सभी कर्मों में धर्म समा जाए, तो ही सम्यक् हो। यदि इसी को जीवन का चरम लक्ष्य मानकर अभ्यास में जुट जाएँ तो जितनी-जितनी सफलता मिले, उतना-उतना लाभ हो। पूरी सफलता मिल जाए, तो निस्संदेह पूरा लाभ हो। सर्वांगीण, सम्यक् धर्म को जीवन में उतारने का अभ्यास करते रहने में हमारा सही मंगल समाया हुआ है। बिना किसी जाति या संप्रदाय के भेदभाव के सब का सही मंगल इसी में समाया हुआ है। देखें, धर्म का सर्वांगीण सम्यक् स्वरूप क्या है?

हमारी वाणी सम्यक् हो। वाणी सम्यक् तब होती है, जबकि हम झूठ-कपट,गाली-गलौज, कटु-कठोर, चुगली-निंदा और ऊल-जलूल बकवास भरे वचनों से वस्तुतः छुटकारा पा लेते हैं।

हमारे शारीरिक कर्म सम्यक् हों। शारीरिक कर्म सम्यक् तब होते हैं, जबकि हम हिंसा-हत्या, चोरी-चारी, नशे-पत्ते आदि के दुष्कर्मों से यथार्थतः मुँह मोड़ लेते हैं।

हमारी आजीविका सम्यक् हो। आजीविका तब सम्यक् होती है, जबकि हम अपने जीवन-यापन के साधनों को वास्तविकता के स्तर पर शुद्ध करते हुए छल-छद्म, जालसाजी, तस्करी-चोरी को सर्वथा त्यागते हैं और ऐसा कोई व्यवसाय नहीं करते, जिससे कि धन-संचय की तीव्र लालसा के वशीभूत होकर अन्य अनेकों को हानि पहुँचावें।

हमारे प्रयत्न सम्यक् हों। प्रयत्न सम्यक् तब होते हैं, जबकि हर प्रयत्न सचमुच एक ऐसा व्यायाम बन जाता है, जिससे कि हमारा मन दुर्गुण-विपन्न और सद्गुण-संपन्न हो।

हमारी जागरूकता सम्यक् हो। जागरूकता तब सम्यक् होती है, जबकि हम अपने कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों के प्रति सजग-सचेत रहने के वास्तविक अभ्यास से जुट जाते हैं।

हमारी समाधि सम्यक् हो। समाधि तब सम्यक् होती है, जबकि सतत अभ्यास द्वारा हम अपने चित्त को किसी आलंबन के सहारे देर तक सजग, समाहित रख सकने में सचमुच सफल होते हैं।

हमारे संकल्प सम्यक् हों। समाधि तब सम्यक् होती है, जबकि हम अपनी चित्त-धारा पर से हिंसा, क्रोध, द्वेष, दौर्मनस्य की दुर्वृत्तियाँ वास्तव में दूर कर देते हैं।

हमारा दर्शन सम्यक् हो। दर्शन तब सम्यक् होता है, जबकि हम बुद्धि-किलोल से छुटकारा पाकर परम सत्य का यथार्थतः दर्शन कर लेते हैं।

दर्शन माने फिलासफी नहीं समझें, अन्यथा किसी मत-मतांतर की फिलासफी के सिद्धांतों का चिंतन-मनन ही हमारे लिए सम्यक् दर्शन बन बैठेगा और इस प्रकार मिथ्या दर्शन में उलझे रह जाएँगे। दर्शन माने साक्षात्कार। परंतु साक्षात्कार का भी अर्थ यह नहीं कि बार-बार के निदिध्यास द्वारा यथार्थ से सर्वथा दूर, किसी कल्पना-प्रसूत रंग-रोशनी,रूप-आकृति को बंद आँखों से देखकर इस मिथ्यादर्शन को ही सम्यक् दर्शन मानने लगें। दर्शन माने सत्य की स्वानुभूति। अपने ही भीतर स्थूल सत्य से आरंभ करके सूक्ष्म-से-

सूक्ष्मतर सत्यों की स्वानुभूति करते हुए जब परम सत्य की स्वानुभूति होती है तो ही दर्शन सम्यक् होता है। सम्यक् दर्शन के इस अनुभूति-जन्य धरातल पर जो ज्ञान होता है, वही ज्ञान सम्यक् है, अन्यथा बुद्धि किलोल-जन्य मिथ्या ज्ञान है। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों की उपलब्धि साथ-साथ होती है। सम्यक् दर्शन हो जाए तो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् बोध हो ही जाता है, जो कि अभ्यासजन्य धर्म का चरमोत्कर्ष है।

सतत अभ्यास करते-करते सर्वांगीण धर्म को जब हम सम्यक् बनाते हैं, परम परिशुद्ध करते हैं, तो जीवन-व्यवहार में स्वभावतः सर्वतोमुखी उन्नति होती है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों में से अशुद्धियाँ दूर होती हैं। जीवन कृतकृत्य होता है, धन्य होता है। त्रिविध आचरण स्वतः सुधरते जाते हैं। चारित्र्य सम्यक् होता जाता है। यदि ऐसा न हो और केवल किसी संप्रदाय-विशेष की रूढ़ि-परंपराओं का पालन करते हुए अपने-आपको सम्यक् चरित्र्यवान कहें, तो धोखे में पड़ते हैं। चित्त विकारों से मुक्त हो नहीं, व्यवहार में सौम्यता आवे नहीं, पारस्परिक बर्ताव में शुद्धि आवे नहीं, फिर भी सम्यक् चारित्र्य कहें तो मिथ्या को ही सम्यक् मान लेने की भ्रांति होगी।

धर्म की तीन मंजिलें हैं- परियत्ति, पटिपत्ति, पटिवेध। परियत्ति माने धर्म के शास्त्रीय ज्ञान की निपुणता। पटिपत्ति माने धर्मपंथ का स्वयं प्रतिपादन। पटिवेध माने मार्ग का अनुशीलन करते हुए, सारी विध्न-बाधाओं का भेदन कर धर्म के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर लेना। धर्म का परियत्ति अंग निरर्थक नहीं है, परंतु वह सार्थक भी तभी होता है, जबकि उससे आगे प्रतिपत्ति और प्रतिवेधन का प्रयोग कर लिया जाए।

धर्म महज शास्त्रीय ज्ञान में नहीं, आचरण में है। धर्म सैद्धांतिक मान्यता में नहीं, सिद्धांतों का जीवन जीने में है। धर्म आचरण में उतरे तो ही परिपूर्ण होता है, सम्यक् होता है, अन्यथा मिथ्या-ही-मिथ्या रहता है—चाहे उसे बौद्ध कहें या जैन, ईसाई कहें या हिंदू, मुस्लिम कहें या यहूदी, पारसी कहें या सिक्ख या और कुछ।

किसी भी संप्रदाय के धर्म-गुरु से पूछ देखें। वह यही कहेगा कि धर्म की उपरोक्त बातें यानी काया, वाणी और चित्त के कर्मों को शुद्ध करने की बातें हमारे धर्म की ही हैं। कोई नहीं कहेगा कि ये हमारे धर्म के बाहर की

बातें हैं। तो यह बात सबके धर्म की हुई, सार्वजनीन हुई, संप्रदाय-विशेष की नहीं। परंतु साथ-साथ हम यह भी देखते हैं कि सभी संप्रदायों में ऐसे लोगों की संख्या ही अधिक है, जो कि अपने-आपको धर्मवान तो समझते हैं, परंतु धर्म के सार को धारण नहीं करते। धर्म को जीवन में नहीं उतारते। अत: यह रोग सार्वजनीन है, विश्वव्यापी है, किसी एक संप्रदाय-विशेष का नहीं।

हम धर्म का जीवन नहीं जी रहे हैं, यह जितना बुरा है, उससे हजारों गुणा बुरा यह भ्रम है कि वस्तुत: हम धर्म का ही जीवन जी रहे हैं। विचित्र विडंबना है। रोगी होते हुए भी अपने-आपको निरोग मान रहे हैं। अजीब नशा छाया है हम पर। सब संप्रदायवालों पर एक-सा नशा। सभी कुओं में भाँग पड़ी है। किसी भी संप्रदाय के हों, अपने-अपने संप्रदाय की किसी विशिष्ट वेश-भूषा को धारण कर लें अथवा अपनी परंपरा का कोई रूढ़ कर्मकांड पूरा कर लें अथवा अपने संप्रदाय के शास्त्रों द्वारा उद्घोषित किसी दार्शनिक सिद्धांत की मान्यता अपने मन में कट्टरता से भर लें और महज इसी से समझ बैठें कि हम धर्म का जीवन जी रहे हैं, भले हमारे दैनिक जीवन में धर्म का नामोनिशान न हो। धर्म के नाम पर गहरा नशा है यह! पश्चिम के किसी समझदार आदमी ने कहा था, ''धर्म अफीम का नशा है!'' जो धर्म नहीं है, उसे धर्म मानकर जीने में अफीम का ही नहीं, बल्कि उससे भी बड़ा नशा है। अफीम का नशा तो समय पाकर उतर जाता है, परंतु इस मिथ्या धर्म के नशे में डूबा हुआ व्यक्ति सारा जीवन बेहोशी में बिता देता है। नशा उतरने का नाम नहीं लेता। रोज-ब-रोज तेज होता जाता है।

अपना तथा सबका सही मंगल चाहनेवाले व्यक्ति को इस नशीले खतरे से बचना चाहिए और यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि धर्म की चरम परिणति, उसका अंतिम लक्ष्य, उसका एकमात्र उद्देश्य उसे जीवन में उतारने में है। जो धर्म पढ़ा-सुना गया, सोचा-समझा गया; पर धारण नहीं किया गया, वह सम्यक् नहीं है, परिपूर्ण नहीं है, अभी कच्चा है। कच्चे घड़े के सहारे नदी पार करना खतरनाक है। उसे पकाएँ। हजार कठिनाइयों के बावजूद उसे धारण करने के अभ्यास को ही महत्त्व दें। कहीं ऐसा न हो जाए कि अभ्यास के रास्ते कोई मील का पत्थर हमें रोक ले, कोई मृग-मरीचिका हमें भ्रांत कर दे और हमारी प्रगति रुक जाए! जिस धर्म को हम धर्म मान रहे हैं, वह

सम्यक् है, अथवा मिथ्या, इस सच्चाई को बार-बार परखते रहें और परखने का एकमात्र तरीका यही है कि धर्म जीवन में उतर रहा है या नहीं। हमारे दैनिक व्यवहार में आ रहा है या नहीं? हमारा भला इसी में है कि जब हम देखें हमारे जीवन में धर्म नहीं उतर रहा है तो भले ही हम ऐसी वेश-भूषा धारण करते हैं या वैसी, ऐसे क्रियाकांड करते हैं या वैसे, इस संप्रदाय में दीक्षित हैं या उसमें, ऐसी दार्शनिक मान्यता मानते हैं या वैसी, आत्मवादी हैं या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हैं या अनीश्वरवादी, द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी, हम इस बात को स्वीकारते हुए जीएँ कि हम धर्मवान नहीं हैं, कदापि नहीं हैं। जीवन में उतरे तो ही धर्म है, वरना धोखा है। हम महज तर्क-श्रद्धा, रूढ़ि-पालन और दार्शनिक मान्यता के स्तर पर ही धर्म को स्वीकार करके न रह जाएँ, बल्कि वास्तविकता के स्तर पर उसे जीवन में उतारें—तो ही धर्म सम्यक् है, तो ही कल्याणकारी है, तो ही मंगलकारी है।

6 / समता धर्म

समता धर्म है। विषमता अधर्म। समता अनासक्ति है। विषमता आसक्ति। जहाँ आसक्ति है, वहाँ दुख है। जहाँ अनासक्ति है, वहीं सच्चा सुख, सच्ची शांति है।

विपश्यना-साधना द्वारा हम देखते हैं कि शरीर पर आधारित इस चित्तधारा में विविध कारणों से समय-समय पर सुखद और दुखद—दोनों ही प्रकार की संवेदनाएँ प्रकट होती रहती हैं। सुखद संवेदना हमें प्रिय लगती है और उसके प्रति राग पैदा होता है। परिणामत: उसे बनाए रखने के लिए आतुर रहते हैं। वह छूट न जाए, इसलिए आशंकित-आतंकित हो उठते हैं। असुरक्षिता की बेचैनी महसूस करने लगते हैं। परंतु प्रकृति के परिवर्तनशील नियमों के कारण यह सुखद संवेदना नष्ट होती ही है और जब दुखद संवेदना प्रकट होती है तो उसके प्रति द्वेष जागता है। उसे दूर करने के लिए आतुर हो उठते हैं। क्या यह कभी दूर नहीं होगी? इस भय-आशंका से आतंकित हो उठते हैं। फिर असुरक्षा की बेचैनी में जकड़ जाते हैं। दोनों ही अवस्था में अशांत, बेचैन रहते हैं। राग और द्वेष से आसक्ति जागती है। असुरक्षा की भावना जागती है। मन अपना संतुलन खो बैठता है। यही विषमता है। सुखद-दुखद

स्थितियों के रहते भी मन राग-द्वेष से विहीन रहे, तभी अनासक्त रहता है। सुरक्षित महसूस करता है। संतुलन नहीं खोता। शांत रहता है।

सुखद-दुखद स्थिति के प्रति पूर्ण संवेदनशील और जागरूक रहकर भी अविचलित रहना ही समता है। समता चट्टानी जड़ता नहीं है, मरघट की शांति नहीं है। जहाँ चित्त को उत्तेजित करनेवाले आलंबन-उद्दीपन ही न हों, वहाँ समता सही समता है, यह कैसे कहा जा सकता है? जहाँ उत्तेजित करनेवाले आलंबन-उद्दीपन हों, तो भी,उत्तेजित हो सकनेवाला चित्त ही सुषुप्त हो, वहाँ भी समता ही समता है, यह कैसे कहा जा सकता है? समता नकारात्मक नहीं है, मूढ़ता, मूर्च्छा, कुंठा नहीं है। कोई हमें भाजी की तरह काट जाए और हमें पता ही न चले, ऐसी अचेतन अवस्था नहीं है। यह कोई अनस्थेस्या की सुंघनी या मोर्फिन का इन्जेक्शन नहीं है। पूर्ण चेतन रहें, फिर भी सम रहें, तो ही समता है, अन्यथा गहरी नींद में सोनेवाला अथवा मूर्च्छित अथवा मूढ़ व्यक्ति समता का दंभ भर सकता है।

सुखद से प्रफुल्लित हो उठना और दुखद से मुरझा जाना ही वैषम्य है। दोनों के रहते संतुलित-समरस रहना समता है। परंतु समता हमें अशक्त और कर्मशून्य नहीं बनाती। सच्ची समता आती है तो प्रवृत्ति जागती है। ऐसी प्रवृत्ति परम पुरुषार्थ का रूप धारण करती है। परम पुरुषार्थ में अपने-पराए का भेद नहीं रहता है। ऐसी पुरुषार्थ-प्रदायिनी समता जिनती सबल होती है, जीवन में उतना मंगल उतरता है—आत्म-मंगल भी, जन-मंगल भी। समता जितनी दुर्बल होती है, उतना ही अनर्थ होता है—अपना भी, औरों का भी।

समता-धर्म जीवन-जगत से दूर भागना नहीं है। पलायन नहीं है। जीवन-विमुख होना नहीं है। समता-धर्म जीवन-अभिमुख होकर जीना है। जीवन से-दूर भागकर आखिर कहाँ जाएँगे? विषयों से दूर भागकर कहाँ जाएंगे? सारा संसार विषयों से भरा पड़ा है। विषय हमारा क्या बिगाड़ते हैं? वे न हमारे शत्रु हैं, न मित्र। न भले हैं, न बुरे। भला-बुरा है, उनके प्रति हमारा अपना दृष्टिकोण—अनासक्त अथवा आसक्त दृष्टिकोण, सम अथवा विषम दृष्टिकोण। यदि हम विषयों से दूर भागने के बजाय उनसे उपन्न होनेवाले विकारों को समता से यानी अनासक्ति से देखना सीख जाएँ तो उन विषयों के रहते हुए भी विकारों को निस्तेज कर लेंगे। समता से देखना ही विशेष रूप से

देखना है, प्रज्ञापूर्वक देखना है, सम्यक् दृष्टि से देखना है। यही विदर्शना है, यही विपश्यना है। समतामयी विपश्यना की दृष्टि प्राप्त होती है तो 'मैं-मेरे' का और 'राग-द्वेष' का कोहरा दूर होता है। जो जैसा है, वैसा ही दीखता है, और तब हम अंध प्रतिक्रिया करना छोड़ देते हैं। समता की सुदृढ़ भूमि पर स्थिर होकर हम जो कुछ करते हैं, वह शुद्ध क्रिया होती है, प्रतिक्रिया नहीं। इसलिए कल्याणकारी होती है। अमंगलकारी नहीं।

भीतर चित्त-धारा में उठनेवाली सुखद-दुखद संवेदनाओं के प्रति पूर्ण समता का भाव आने लगता है तो बाह्य जीवन में सहज समता प्रकट होने लगती है। बाह्य जीवन-जगत की सारी विषमताएँ आंतरिक समता को भंग नहीं कर पातीं। जीवन में आते रहनेवाले उतार-चढ़ाव, ज्वार-भाटे, बसंत-पतझड़, धूप-छाँह, वर्षा-आतप, हार-जीत, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान, लाभ-हानि आदि द्वंद्वों से मन विचलित नहीं होता। सारी स्थितियों में समरस बना रहता है।

आंतरिक समता की पुष्टि से ही योग-क्षेम पुष्ट होता है। इसी के बल पर हजार प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद अपनी सुरक्षा का मिथ्या भय दूर रहता है। जीवन में वैशारद्य आता है, निर्भयता आती है, अगले क्षण क्या हो जाएगा? इसके लिए चिंतित, व्यथित, आकुल-व्याकुल नहीं होता। मेरे पुत्र-कलत्र, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, सत्ता-शक्ति, स्वास्थ्य-आयु सुरक्षित रहेंगे या नहीं? इन निरर्थक चिंताओं से मुक्ति मिलती है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति को अपरिवर्तनीय बनाए रखने का प्रमत्त प्रयास, जीवन-जगत की सतत प्रवाहमान धारा को रोक रखने का उन्मत्त आग्रह, पानी के बुदबुदों को मुट्ठी में भींचकर 'मेरा' बनाए रखने का निपट निरर्थक प्रयत्न सहज ही छूट जाता है। जीवन से कुटिलता, विषमता, खिंचाव-तनाव स्वतः दूर होने लगते हैं। परिस्थितियों की बदलती हुई लहरों पर सहजभाव से तैरना आ जाता है। नितांत कर्मशील रहते हुए भी परिणामों के प्रति उन्मुक्त निश्िंचतता आती है और साथ-साथ व्यवहार-कौशल्य में प्रौढ़ता आती है। यही समता धर्म का मंगल परिणाम है।

समता आती है तो मन, वाणी और शरीर के कामों में शुद्धता आती है। उनमें सामंजस्य आता है। परिणामतः जीवन में स्वस्थता आती है। वात-पित्त-कफ में विषमता आने से शरीर रोगी हो जाता है। इसी प्रकार मन, वाणी और शरीर के कर्मों में विषमता आने से जीवन रोगी हो जाता है। मन में कुछ

हो, बोलें कुछ और करें कुछ, और; तो अस्वस्थ ही हो जाएँगे। ताल-स्वर-लय की समता से जैसे तन्मयता आती है, वैसे ही मन-वाणी के कर्मों की समता से भी तन्मयता आती है। परम सुख प्राप्त होता है। समता का सुख संसार के सारे सुखों से परे है, श्रेष्ठ है।

समता ही स्वस्थता है। मन की समता नष्ट हो जाती है तो नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं—मानसिक भी और परिणामतः शारीरिक भी। समतापूर्ण जीवन जीनेवाला कलावंत व्यक्ति ही स्वस्थ जीवन जीता है। समतामय जीवन जीनेवाले का अहंभाव, आत्मभाव नष्ट होता है। 'मैं' 'तू' का विषमताभरा एकांतीय, एकपक्षीय दृष्टिकोण टूटता है। समता-समन्वय का अनेकांतीय, अनेकपक्षीय दृष्टिकोण पनपता है। विषमता आसक्ति की ओर झुकती है। आसक्ति अतियों की ओर झुकाती है, और अतियों की ओर झुक जाने का कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण उत्पन्न होने लगते हैं। "केवल मेरी मुक्ति हो जाए, बाकी समाज भले जहन्नुम में जाएँ। यह पुत्र, कलत्र, भाई, बंधु—सब बंधन हैं। मुझे इनसे क्या लेना-देना? मैं कैसे अपनी मुक्ति साध लूँ? इनके भले-बुरे से मुझे कोई वास्ता नहीं।"—ऐसा सोचनेवाला व्यक्ति अतियों के एक अंत में उलझा रहता है। दूसरी ओर, केवल 'मैं' और 'मेरे परिवार' की सीमित परिधि में आकंठ डूबा हुआ व्यक्ति अतियों के दूसरे अंत में उलझा रहता है। समता धर्म मध्यम मार्ग का धर्म है। समता धर्म आत्म-मंगल और परमंगल के समन्वय-सामंजस्य का धर्म है। व्यक्ति जंगल के पेड़-पौधों की तरह स्थावर नहीं है, जंगम है, चलता-फिरता है और अन्य अनेक लोगों से उसका संपर्क, संबंध बना रहता है। आत्म-शोधन के लिए कुछ काल एकांत वास करना और अंतर्मुखी होना आवश्यक और कल्याणकारी है। परंतु इस प्रकार शोधे हुए मन को बाह्य जगत में सम्यक् प्रयोग होने पर ही धर्म पुष्ट होता है।

'मैं' के संकुचित बिंदु से चिपके रहने के कारण ही दृष्टि धूमिल हो जाती है। कर्म-सिद्धांत की वैज्ञानिकता स्पष्ट समझ में नहीं आती। व्यक्ति आसक्तिजन्य अतियों की ओर झुक जाता है और यह मानने लगता है कि हर व्यक्ति अपने पूर्व कर्मों से ही प्रभावित होता है। औरों के कर्मों से उसे कुछ भी लेना-देना नहीं, जबकि सच्चाई यह है कि हर व्यक्ति अपने कर्मों से तो प्रभावित होता ही है। परंतु सारे समाज के कर्मों से भी कम प्रभावित नहीं होता। व्यक्ति अपने कर्मों का

फलित पुतला तो है ही, परंतु समग्र मानव-समाज की अब तक की प्रगति या प्रतिगति की विरासत भी लिये ही हुए है। हमारे कर्म हमें तो प्रभावित करते ही हैं, परंतु कमोबेश औरों को भी प्रभावित करते रहते हैं। हम अपने कर्मों की विरासत अपनी भव-धारा को तो दे ही रहे हैं, परंतु साथ-साथ आनेवाली पीढ़ियों को भी कुछ-न-कुछ दे रहे हैं, न व्यष्टि समष्टि से अछूता रह सकता है और न समष्टि व्यक्टि से। न व्यक्ति समाज से अछूता रह सकता है और न समाज व्यक्ति से। दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति और समुदाय के संबंधों में समता, सामंजस्य की स्थापना ही शुद्ध धर्म का मंगल परिणाम है। समता का शुद्ध धर्म जितना-जितना विकसित होता है, व्यक्ति उतना-उतना 'मैं' के संकुचित बिंदु से आगे बढ़ता है। यह 'मैं' का बिंदु ही है, जो अपने इर्द-गिर्द 'मेरे' के वृत्त पैदा करता रहता है। शनैः-शनैः इस 'मेरे' के वृत्त की संकीर्णता भी दूर होती है। 'मेरे' का वृत्त विकसित होते-होते साम्य की पूर्णता प्राप्त होने पर असीम हो जाता है।

जब तक 'मैं' की संकीर्णता में आबद्ध रहता है, तब तक इस 'मैं' के लिए किसी की भी हानि करने में नहीं सकुचाता। दायरा जरा-सा बढ़ता है तो जिन्हें 'मेरा' कहता है उनकी हानि करने से रुकता है। 'मैं' के दायरे से निकलता है तो 'मेरे' के संकुचित दायरे तक सीमित हो जाता है, 'मेरी पत्नी', 'मेरा पुत्र' के दायरे तक। उससे और आगे बढ़ता है तो मेरे कुल, मेरे गोत्र, मेरे वर्ण, मेरी जाति, मेरे संप्रदाय, मेरे राष्ट्र की परिधि में अटककर रह जाता है। समता धर्म में परिपुष्ट होता है तो ये परिधियाँ भी टूटती हैं। मानव मात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के हित-सुख में अपना हित-सुख देखता है। किसी भी प्राणी के हित-सुख का हनन करके अपने हित-सुख की कुचेष्टा करना तो दूर, ऐसा चिंतन तक नहीं कर सकता।

जहाँ दायरे हैं, वहाँ विषमता है। दायरा जितना संकुचित है, विषमता उतनी ही तीव्र है। साम्य का उतना ही अभाव है। साम्य के अभाव के कारण ही जो 'मैं' हूँ, जो 'मेरा' है, उसके हित-सुख के लिए उसकी सुरक्षा के लिए जो 'मैं' नहीं हूँ जो 'मेरा' नहीं है, उसकी हानि की जाती है। जब तक ऐसा है, तब तक जीवन पाप से ही भरा रहता है। जो 'मैं-मेरा' है, उनके लिए एक कण भी जुटा सके तो जो 'मैं-मेरा' नहीं है, उनका एक कन भी मिट्टी में

मिलाते नहीं हिचकते। 'मैं-मेरे' के अंधेपन में जघन्य-से-जघन्य पाप कर्म भी अनुचित नहीं लगता।

विषमता 'मैं-मेरे' की, 'अहं-मम' भाव की जननी है। अहं-मम-भाव विषमता का पोषक है। अहं-मम-भाव के कारण ही हम तीव्र लोभ के वशीभूत होकर संग्रह-परिग्रह करते हैं और अनेकों को अभावग्रस्त कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं। तीव्र दंभ के वशीभूत होकर ऊंचे कुल, ऊँचे वर्ण, ऊँची जाति का नशा सिर पर चढ़ाते हैं और समाज में ऊँच-नीच का भेद-भाव पैदा कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं। सत्ता के मद में मदहोश होकर निर्बल और भोले लोगों का दमन और शोषण करते हैं और सामाजिक समता की हत्या करते हैं। इस प्रकार आर्थिक,सामाजिक, राजनैतिक आदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपने अहं का पोषण करते हुए, वैषम्य पैदा करते हैं, औरों के समान अधिकारों को कुचलते हुए पैशाचिक व्यवहार करते हैं और अपने तथा अन्य सबों के दुख का कारण बनते हैं। यह सब समता के अभाव के कारण ही होता है। अपने-पराए का भेद मिटाकर साम्यभाव आवे तो ऐसी नृशंसता कर ही न सकें। यदि मैं मिलावट की औषधि बेचनेवाला लोभी व्यापारी हूँ तो अपने बीमार बेटे को वैसी औषधि कभी नहीं देता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी को भी मिलावट की औषधि नहीं दूँगा। यदि मैं रिश्वतखोर शासक हूँ या शासनाधिकारी हूँ तो अपने बेटे से रिश्वत कभी नहीं लेता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी से भी रिश्वत नहीं लूँगा। यदि उच्च वर्ण के मिथ्यादंभ का शिकार हूँ तो अपने पुत्र को अछूत कहकर कभी नहीं दुत्कारता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी को भी अछूत कहकर नहीं दुत्कारूँगा। अपने और पराए का भेद दूर होना ही वैषम्य का दूर होना है। सर्वमंगलकारी साम्यभाव का प्रतिष्ठापित होना है।

जहाँ शुद्ध साम्यभाव प्रतिष्ठापित होता है, वहाँ स्व और पर की सीमा टूटती है। परिणामतः शोषण मिटता है, सहकारिता आती है। क्रूरता मिटती है, मृदुता आती है। अन्याय मिटता है, न्याय आता है। संकीर्णता मिटती है, विशालता आती है। अहंभाव-हीनभाव मिटता है, भ्रातृभाव आता है। अधर्म मिटता है, धर्म आता है।

एक ओर अपने मिथ्या स्वार्थों की सुरक्षा के लिए भयभीत और आतंकित होकर किसी दुर्बल व्यक्ति को कोहनी मारकर नीचे गिराने और उसे पाँव तले रौंदने की क्रूरता और दूसरी ओर योग-क्षेम से परिपूर्ण होकर निर्भर रहते हुए सबके हित-सुख में ही अपना हित-सुख देखने की विशाल हृदयता—इन दोनों के बीच की सारी स्थितियाँ समता-धर्म के विकास की ही सीढ़िया हैं।

समता पुष्ट होती है तो सामंजस्य आता है, समन्वय आता है, स्नेह सौहार्द आता है, सहिष्णुता आती है। सहयोग, सद्भाव, सहकारिता सहज-भाव से ही आ जाते हैं। इनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ये सब नहीं आ रहे हैं तो अवश्य कुछ कमी है। अभी जीवन में सही विश्पयना, सही समता नहीं आई है। समता की साधना के नाम पर कोई छलना, कोई माया या कोई धोखा आया होगा। दार्शनिक बुद्धि-विलास का एक और चमकीला लेप आया होगा। अवश्य ही अंतर्मन अभी विषमता से भरा हुआ है। अपने-आपको कसौटी से कसकर जाँचते रहना चाहिए।

सचमुच, समता पुष्ट होगी तो अपनी हानि करके भी औरों का हितसाधन ही होगा और यह सहजभाव से होगा। दीए की बत्ती स्वयं जलती है, बदले में लोगों को प्रकाश ही देती है। धूपबत्ती स्वयं जलती है, पर बदले में सबको सुवास ही देती है। चंदन की लकड़ी स्वयं कटती है, पर बदले में सबके लिए सुरभि ही बिखेरती है। फलवाला वृक्ष पत्थर की मार स्वयं सहता है, पर बदले में सबको फल ही देता है, और यह सब कुछ सहजभाव से होता है। समता सहज हो जाए तो सबके मंगल का स्रोत खुल जाए।

ऐसे सर्वमंगलमय समता-धर्म में स्थापित होने के लिए अभ्यास करें।

7 / सरल चित्त

सरलता ही चित्त की विशुद्धि है। कुटिलता मलीनता है। मलीनता अनर्थकारिणी है, विशुद्धता सर्वार्थ-साधिनी। कुटिलता सर्व-हित-नाशिनी है, सरलता सर्व-हितकारिणी। न केवल अपने, बल्कि सबके हित-सुख साधन के लिए सरलता अपनाएँ, कुटिलता त्यागें।

नैसर्गिक स्वच्छ मन स्वभाव से ही सरल होता है। सरलता गई तो समझो, स्वच्छता गई। सरलता खोने के तीन प्रमुख कारण हैं, जिनसे हमें सावधान रह

कर बचना चाहिए। कौन से तीन? तृष्णा, अहमन्यता और दार्शनिक दृष्टियाँ। 'तण्हा-मान दिट्ठि।' इन तीनों में से किसी एक के प्रति मन में जब जितनी आसक्ति उत्पन्न होती है, तब हम उतनी ही सरलता खो बैठते हैं, उतनी ही स्वच्छता गँवा देते हैं, उतने मलीन हो जाते हैं, उतने सुख-शांति-विहीन हो जाते हैं, उतने दु:खी हो जाते हैं।

जब किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थिति के प्रति घृणा-तृष्णा जागती है और आसक्ति बढ़ती है, तब उसे प्राप्त करने के लिए अथवा प्राप्त हुई हो तो अधिकार में रखने के लिए हम बुरे-से-बुरा तरीका अपनाने पर उतारू हो जाते हैं। चोरी, डकैती, झूठ-फरेब, छल-छदम्, प्रपंच-प्रवंचन, धोखा-धड़ी आदि सब कुछ अपनाते हैं। अपने पागलपन में मन की सारी सरलता खो देते हैं। साध्य हासिल करने की आतुरता में साधनों की पवित्रता खो देते हैं। प्रिय के प्रति अनुरोध ही अप्रिय के प्रति विरोध उत्पन्न करता है। इससे हम इतने प्रमत्त हो उठते हैं कि तृष्णा-पूर्ति में जो भी बाधक लगता है, उसे दूर करने के लिए, नष्ट करने के लिए असीम, क्रोध, रोष, द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य और दुर्भावनाओं का प्रजनन करने लगते हैं और परिणामस्वरूप अपनी सुख-शांति भंग कर लेते हैं। मन की सरलता नष्ट कर लेते हैं।

इसी प्रकार 'मैं-मेरे' के प्रति आसक्ति बढ़ती है तो उस मिथ्या कल्पित 'मैं-मेरे' की मिथ्या सुरक्षा और मिथ्या हित-सुख के लिए, जिन्हें 'मैं-मेरा' नहीं मानते, उनकी बड़ी-से-बड़ी हानि करने पर तुल जाते हैं। ऐसा कर वस्तुत: अपनी ही अधिक हानि करते हैं। अपने मन की सरलता की हत्या करते हैं, अपनी आंतरिक स्वच्छता खो बैठते हैं, अपनी सुख-शांति गँवा बैठते हैं। औरों को ठगने के उपक्रम में स्वयं ही ठगे जाते हैं।

इसी प्रकार जब हमें दार्शनिक दृष्टि अथवा सांप्रदायिक मान्यता के प्रति आसक्ति हो जाती है तो संकीर्णता के शिकार हो जाते हैं और मन की सहज सरलता खो बैठते हैं। मन जब पानी की तरह सहज-सरल-तरल होता है तो अपने-आपको सच्चाई के पात्र के अनुकूल ढाल लेता है और अपनी सरलता भी नहीं गँवाता। रास्ते में अवरोध आता है तो कल-कल करता हुआ उसके बगल से निकल जाता है। कोई अवरोध उसे काटता है, दो टुकड़े करता है, तो कटकर भी अवरोध के आगे बढ़ता हुआ फिर जुड़ जाता है और वैसे-

का–वैसा हो जाता है। जब कोई अवरोध दीवार की तरह सामने आकर गति अवरुद्ध कर देता है तो धैर्यपूर्वक धीरे–धीरे ऊँचा उठता हुआ उस दीवार को लाँघकर सहजभाव से आगे बह निकलता है। परंतु मन जब पत्थर की तरह कठोर हो जाता है तो चट्टानों से टकराकर चिनगारियाँ पैदा करता है, चूर–चूर होता है। जब हमारी दृष्टि दार्शनिक विश्वासों, अंधमान्यताओं, कर्मकांडों और बाह्य और आडंबरों के प्रति आसक्त होकर रूढ़ हो जाती है तब पथरा जाती है। पथराई हुई दृष्टि निर्जीव हो जाती है, हमें अंधा बनाती है और हमारे कल्याण का रास्ता बंद करती है। सांप्रदायिकता की दासता में जकड़े रहने के कारण हम सत्य को अपने चश्मे से ही देखना चाहते हैं। उसे तोड़–मरोड़कर अपनी मान्यता के अनुकूल बनाना चाहते हैं, उस पर अपना रंग–रोगन लगाकर उसकी सहज स्वाभाविकता, सहज सौंदर्य नष्ट करते हैं। इस दुष्प्रयास में अपने मन की सरलता नष्ट करते हैं। उसे कुटिलता से भरते हैं।

कुटिलता कठोर है, सरलता मृदुता। कुटिलता अभिमानता है, सरलता निरभिमानता। कुटिलता ग्रंथि–बंधन है, सरलता ग्रंथि–विमोचन।

ग्रंथि–बंधन बड़ा दुखदायी है। सच्चा सुख तो ग्रंथि–विमोचन में ही है, विमुक्ति में ही है। जब–जब सरलता खोकर कुटिलता अपनाते हैं, तब–तब अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। भीतर–ही–भीतर तनाव–खिंचाव शुरू हो जाता है। अनजाने में गाँठें बाँधने लगते हैं। अंतर्मन गाँठ–गठीला हो उठता है। उसके साथ–साथ शरीर के रेशे–रेशे मूंज की रस्सी की तरह बल खा–खाकर अकड़ जाते हैं। इससे हम बेचैन, अशांत, व्याकुल ही रहते हैं। हमारी यह आंतरिक व्याकुलता जब–तब चिड़चिड़ाहट और झुँझलाहट के रूप में बाहर प्रकट होती है और इस प्रकार हम अपनी बेचैनी औरों पर बरसाते हैं।

इसके विपरीत मन जब सहज–सरल रहता है तो मृदु–मधुर, सौम्य–स्वच्छ, शीतल–शांत रहता है। शरीर भी हल्का–फुल्का और पुलक–रोमांच से भरा रहता है। परिणामतः हम प्रीति–प्रमोद और सुख–सौहार्द से भर उठते हैं। हमारा यह आंतरिक प्रीति–सुख मैत्री और करुणा के रूप में बाहर प्रकट होता है और इस प्रकार हम अपनी सुख–शांति औरों को बाँटते हैं। आस–पास के सारे वायुमंडल को प्रसन्नता से भरते हैं।

इसीलिए आत्महित, परहित और सर्वहित के लिए कुटिलता त्यागें, सरलता अपनावें।

कुटिलता में महा-अमंगल समाया है, सरलता में महा-मंगल।

8 / धर्म-चक्र

हमारे भीतर जो प्रतिक्षण लोकचक्र चल रहा है, इससे छुटकारा पाने के लिए धर्मचक्र प्रवर्तित करना होगा। लोकचक्र हमारे समस्त दुखों का मूल है। धर्मचक्र सभी दुखों का निरोधक है।

लोकचक्र क्या है? लोकचक्र मोह, मूढ़ता है। लोकचक्र अज्ञान, अविवेक, अविद्या है, जिसके कारण हम निरंतर राग और द्वेष की चक्की से पिसते रहते हैं। हमारी छह इंद्रियों—आँख, नाक, कान, जिह्वा, शरीर की त्वचा और मन—तथा इंद्रियों के छह विषय—रूप, गंध, शब्द, रस, स्पर्शव्य और कल्पनाएँ; इनका परस्पर संस्पर्श होता रहता है। नाक का गंध से, कान का शब्द से, जिह्वा का रस से, काया का किसी भी स्पर्शव्य पदार्थ से, मन का कल्पना से। संस्पर्श होते ही तत्क्षण हमारे चित में कोई संवेदना जागती है। यदि वह हमें प्रिय लगी हो तो हम तत्संबंधी विषय से चिपकाव यानी राग पैदा कर लेते हैं। यदि अप्रिय लगी तो दुराव यानी द्वेष पैदा कर लेते हैं। चाहे राग उत्पन्न हो अथवा द्वेष, दोनों ही हमारे मन में तनाव-खिंचाव और उत्तेजना पैदा करते हैं। इससे समता नष्ट होती है। विषमता आरंभ होती है। दुख-संधि होती है। दुख आरंभ होता है। यही लोकचक्र का आरंभ हो जाना है।

नासमझी से हम जो उत्तेजना पैदा कर लेते हैं, वह गहरी आसक्तियों में परिवर्तित होकर दूषित भव-चक्र के रूप में बढ़ती है और हमें व्याकुल, व्यथित बनाती और हमारा दुख-संसार बढ़ाती है। इसी भवचक्र को काटने के लिए हमारे भीतर धर्मचक्र जगाते रहना बहुत आवश्यक है। यदि धर्मचक्र जागता है तो विवेक, विद्या और होश जागता है। जैसे ही किसी इंद्रिय और उसके विषय के संस्पर्श से चित्त में कोई संवेदना पैदा हो, प्रिय या अप्रिय, सुखद या दुखद—वैसे ही पागलों की तरह उस विषय के प्रति राग-रंजित और द्वेष-दूषित होने के बजाय उसके नश्वर-निस्सार स्वभाव को समझकर प्रज्ञा जागे, अनासक्ति भाव जागे। इसी से लोकचक्र का प्रवर्तन रुकता है। धर्मचक्र-प्रवर्तन का यह प्रत्यक्ष

लाभ है। विपश्यना साधना के सतत अभ्यास द्वारा अपने अंतर्मन में अनुभूत होनेवाली प्रत्येक संवेदना को जानें और जानकर उसमें उलझें नहीं। तटस्थ बने रहें। यों धर्मचक्र प्रवर्तित रखें।

धर्मचक्र प्रवर्तित रखने में हमारा मंगल-कल्याण है।

9 / धर्म धारण करें

धर्म धारण करने में ही सच्चा कल्याण है।

धर्मचर्चा करनी कभी लाभप्रद हो सकती है, कभी लाभप्रद नहीं हो सकती और कभी हानिप्रद भी हो सकती है।

धर्म-चिंतन करना कभी लाभप्रद हो सकता है, कभी लाभप्रद नहीं हो सकता और कभी हानिप्रद भी हो सकता है।

परंतु धर्म-धारण करना तो सदैव लाभप्रद होता है।

धर्मचर्चा करके धर्म के बारे में श्रुत-ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह हमें प्रेरणा और मार्गदर्शन दे और फलतः हम धर्म धारण कर लें तो धर्मचर्चा हमारे लाभ का कारण बनती है, परंतु जब इससे हम केवल बुद्धि-विलास करके ही रह जाएँ तो धर्मचर्चा हमारे लिए लाभप्रद नहीं होती। जब यही श्रुत-ज्ञान हममें ज्ञानी होने की मिथ्या दंभ पैदा कर दे तो धर्मचर्चा हमारी हानि का कारण बन जाती है।

यही बात धर्म-चिंतन की है। धर्म का चिंतन-मनन बौद्धिक ज्ञान पैदा करके निरर्थक बुद्धि-विलास का कारण बनता है, अथवा थोथा दंभ पैदा करके हानि का कारण बनता है। परंतु जब यही चिंतन-ज्ञान धर्मधारण करने की प्रेरणा पैदा करे, मार्ग-दर्शन दे और फलतः हम धर्म धारण कर लें तो कल्याण का कारण बन जाता है।

वास्तविक कल्याण तो धर्म-धारण करने में ही है, मिथ्या बुद्धि-विलास में नहीं, मिथ्या दंभ में नहीं।

अतः साधको, आओ, धर्म धारण करें। धर्म धारण कर स्वयं शीलवान बनें। समाधिवान बनें। प्रज्ञावान बनें।

यही मंगल मूल है।

विपश्यना

1 / विपश्यना क्या ?

विपश्यना को समझें। भली-भाँति समझे बिना सही माने में विपश्यी नहीं बन पाएँगे।

विपश्यना क्या है ?

विपश्यना कोई जादू नहीं, जो हमारे सिर पर चढ़कर बोलने लगे। विपश्यना कोई सम्मोहिनी विद्या नहीं, जिससे हम किसी अन्य के द्वारा सम्मोहित होकर अपनी सुध-बुध खो बैठें। विपश्यना कोई मंत्रविद्या नहीं, जो हमें साँप-बिच्छू या भूत-प्रेत की तरह मंत्राए रख सके। विपश्यना कोई अंध-भक्ति या अंध-भावावेश नहीं, जिसके भावोन्माद में हम उन्मत्त बने रह सकें। विपश्यना कोई भजन, कीर्तन, संगीत या नृत्य नहीं, जिसमें भाव-विभोर होकर हम आत्म-विस्मृत बने रह सकें। विपश्यना कोई ऋद्धि या चमत्कार नहीं, जिसकी अलौकिकता से चमत्कृत होकर हम आश्चर्यचकित बने रह सकें। विपश्यना शब्दों के इंद्रजाल की कोई माया नहीं, जिससे किसी के वाणी-विलास से हम अपना बुद्धि-विलास करते रह सकें। विपश्यना कोई दार्शनिक ऊहापोह नहीं, जिसके सहारे हम दिमागी कसरत करते रहने में अपने-आपको मशगूल रख सकें। विपश्यना तत्त्वचिंतकों का कोई अखाड़ा नहीं, जहाँ हम वाद-विवादी, तर्क-वितर्की बनकर शब्दों के बाल की खाल खींचते हुए बौद्धिक खेल खेलने में अपने-आपको भरमाए रख सकें। विपश्यना कोई विशिष्ट वेशभूषा नहीं, जिसे पहनकर हम धर्मवान बन जाने का गुमान

कर सकें। विपश्यना कोई रूढ़ि या कर्मकांड नहीं, जिसे पूरा करके हम धर्म के नाम पर आत्म-छलना करते रह सकें। विपश्यना कोई ग्रंथ-पाठ नहीं, जिसका पारायण करके हम वैतरणी पार होने का स्वप्न ले सकें। विपश्यना कोई प्रपत्ति नहीं, जिसके द्वारा किसी दृश्य-अदृश्य व्यक्ति के प्रति प्रपन्न होकर हम निश्चिंत हो सकें, अकर्मण्य बन सकें। विपश्यना किसी काल्पनिक तारक देव-ब्रह्म अथवा किसी दंभी धर्माचार्य का मिथ्या आश्वासन नहीं, जो हमारे लिए डूबते को तिनके का सहारा बन सकें।

तो फिर विपश्यना क्या है?

विपश्यना सत्य की उपासना है। सत्य में जीने का अभ्यास है। सत्य यानी यथार्थ। यथार्थ इसी क्षण का होता है। भूतकाल की यादें होती हैं। भविष्यकाल की कामनाएँ, कल्पनाएँ। वास्तविकता इसी क्षण की ही होती है। अतः विपश्यना इसी क्षण में जीने का अभ्यास है—यह क्षण, जिसमें भूत की कोई कल्पना अथवा भविष्य की कोई कल्पना नहीं। यादों की आकुल आहें अथवा स्वप्नों की व्याकुल चाहें नहीं। आवरण, माया, विपर्यास, भ्रम-भ्रांति-विहीन इस क्षण का सत्य है, जैसा भी है, उसे ठीक वैसा ही, उसके सही स्वभाव में, देखना-समझना, यही विपश्यना है। विपश्यना सम्यक् दर्शन है। विपश्यना सम्यक् ज्ञान है।

जो जैसा है, उसे ठीक वैसा ही देख-समझकर जो आचरण होगा, वही सही, कल्याणकारी, सम्यक् आचरण होगा। विपश्यना सम्यक् आचरण है।

विपश्यना पलायन नहीं है, जीवन-विमुखता नहीं है, प्रत्युत जीवन-अभिमुख होकर जीने की शैली है। विपश्यना खुली हवा में ठोस धरती पर कदम रखकर चलने की कला है। विपश्यना बुद्धि-किलोल नहीं, प्रत्युत शुद्ध धर्म-शील को जीवन में उतारने की विधि है। विपश्यना आत्म और सर्व मंगलमयी आचार-संहिता है। स्वयं सुख से जीने तथा औरों को सुख से जीने देने की कल्याणकारिणी जीवन-पद्धति है। विपश्यना आत्म-मंगल है, सर्व-मंगल है। विपश्यना आत्मोदय है, सर्वोदय है।

विपश्यना आत्म-निर्भरता है। बिना बैसाखियों के स्वयं अपने पाँव पर खड़े होने की मंगल विधा है। स्वावलंबन की सर्वोत्कृष्ट साधना है। विपश्यना आत्म-दर्शन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण है। अपने अंदर का कितना

मैल उतरा? कितना बाकी है? कितनी निर्मलता आई? कितनी बाकी हैं? कितने दुर्गण दूर हुए? कितने बाकी हैं? कितने सद्गुण आए? कितने बाकी है? स्वयं अपना लेखा-जोखा रखते रहने की जागरूकता विपश्यना है। स्वयं तस्कर, स्वयं रक्षक। स्वयं रोगी, स्वयं चिकित्सक। अज्ञान से ज्ञान, मैल से निर्मलता, रोग से आरोग्य, दुख से दुख-विमुक्ति की ओर बढ़ते रहने का स्वप्रयास विपश्यना है। विपश्यना सही प्रयास है, सही प्रयत्न है। सम्यक् अभ्यास, सम्यक् व्यायाम है।

विपश्यना आत्म-संवर है—अपने मन पर मैल न चढ़ने देने का संवर। विपश्यना आत्म-निर्जरा है—अपने मन के पुराने मैल उतार फेंकने की निर्जरा। नया मैल कोई दूसरा नहीं, हम स्वयं मोह-विमूढ़ित होकर चढ़ाते रहते हैं। अतः स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक, सतत जागरूक रहकर नया मैल न चढ़ने देना विपश्यना है। पुराना मैल किसी अन्य ने नहीं, प्रमादवश स्वयं हमने चढ़ाया है। इसे दूर करने की सारी जिम्मेदारी हमारी अपनी है, किसी अन्य की नहीं। अतः अपना पुराना मैल स्वयं उतारते रहना विपश्यना है। धीरज-पूर्वक प्रयत्न करते हुए थोड़ा-थोड़ा मैल उतारते रहेंगे तो एक दिन पूर्ण निर्मलता प्राप्त हो ही जाएगी। मन निर्मल होगा तो सद्गुणों से भर जाएगा, दूषित मन पर आधारित सारे शारीरिक रोग, सारे दुख स्वतः दूर हो जाएँगे। विपश्यना आरोग्य बर्धिनी संजीवन औषधि है, चित्तशोधनी धर्म-गंगा है, दुख-निरोधगामिनी प्रतिपदा है, मुक्तिदायिनी धर्मवीथी है।

विपश्यना शील, समाधि में स्थित होकर अंतर्प्रज्ञा जाग्रत करने का पावन अभ्यास है। शनैः-शनैः प्रज्ञा पुष्ट करने का सत्प्रयास है। स्थितप्रज्ञ होने का शुभायास है। प्रज्ञा यानी प्रत्येक प्रत्युत्पन्न स्थिति को प्रकार-प्रकार से जानना। विमोहिनी एकांत दृष्टि त्यागकर सत्य-दर्शिनी अनेकांत दृष्टि द्वारा यथार्थ का सर्वांगीण निरीक्षण करना, तटस्थ होकर उसके सही स्वभाव का साक्षात्कार करना—यही विपश्यना है। विपश्यना निसंग दर्शन है, निर्लिप्त निरीक्षण है। नितांत अनासक्ति है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति का सामना होते ही उसे ठीक-ठीक देखे-समझे बिना सहसा अंध प्रतिक्रिया करना दुष्प्रज्ञता है। यही मानसिक क्षोभ है, उत्तेजना है, विकृति है, असंतुलन है, अशांति है; अतः दुख है। परंतु ऐसी हर

अवस्था को विवेकपूर्वक देख-समझकर अपने मन की समता बनाए रखना प्रज्ञा है। आगत परिस्थिति का संतुलित चित्त से सामना करना धर्माचरण है, मंगल आचरण है। यही विपश्यना है। उत्पन्न स्थिति को हथियाने या हटाने की हठात् चेष्टा करने से बचते हुए अपने-आपको संतुलित रखना और तदनंतर जो कुछ करणीय है, शांतिपूर्वक वही करना, यही सम्यक् जीवन-व्यवहार है। यही विपश्यना है। पर को बदलने के प्रयत्न के पूर्व स्व को बदलना ही शुद्ध चित्त का व्यवहार-कौशल्य है। यह विपश्यना है। विपश्यना आत्म-संयम है, आत्म-संतुलन है, आत्म-समता है, आत्म-सामायिक है।

विपश्यना आत्म-शुद्धि है, आत्म-विमुक्ति है। विकार-विमुक्त शुद्ध चित्त में मैत्री और करुणा का अजस्र झरना अनायास झरता रहता है। यही मानव-जीवन की चरम उपलब्धि है। यही विपश्यना-साधना की चरम परिणति है।

विपश्यना की सिद्धि कठिन अवश्य है, पर असंभव नहीं। कष्ट-साध्य अवश्य है, पर असाध्य नहीं। विपश्यना स्व-प्रयत्न-साध्य है। केवल एक या एकाधिक विपश्यना-शिविरों में सम्मिलित हो जाना ही सब कुछ नहीं है। यह तो जीवनभर का अभ्यास है। विपश्यना का जीवन जीते रहना होगा, सतत सजग, सतत सचेष्ट, सतत सयत्न।

अतः अदम्य उत्साह के साथ विपश्यना के इस मंगल-पथ पर आगे बढ़ते चलें। गिरते-पड़ते और फिर खड़े होकर, घुटनों को सहलाकर, कपड़ों को झाड़कर आगे बढ़ते चलें। हर फ़िसलन अगले कदम के लिए नई दृढ़ता और हर ठोकर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नई उमंग और नया उत्साह पैदा करनेवाली हो। अतः रुकें नहीं, चलते जाएँ। कदम-कदम आगे बढ़ते जाएँ। यही मंगल विधान है।

2 / विपश्यना क्यों ?

मन में मैत्री करुण रस, वाणी अमृत घोल।
जन-जन के हित के लिए, धर्म-वचन ही बोल॥

शांति और चैन किसे नहीं चाहिए, जबकि सारे संसार में अशांति और बेचैनी छाई हुई नजर आती है? शांतिपूर्वक जीना आ जाए तो जीने की कला हाथ आ

जाए। सच्चा धर्म सचमुच जीने की कला ही है, जिससे कि हम स्वयं भी सुख और शांतिपूर्वक जीएँ तथा औरों को भी सुख-शांति से जीने दें। शुद्ध धर्म यही सिखाता है, इसलिए सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वभौमिक होता है। संप्रदाय धर्म नहीं है। संप्रदाय को धर्म मानना प्रवंचना है।

समझें! धर्म कैसे शांति देता है?

पहले यह जान लें कि हम अशांत और बेचैन क्यों हो जाते हैं? गहराई से सोचने पर साफ मालूम होगा कि जब हमारा मन विकारों से विकृत हो उठता है तब वह अशांत हो जाता है। चाहे क्रोध हो, लोभ हो, भय हो, ईर्ष्या हो या और कुछ। उस समय विक्षुब्ध होकर हम संतुलन खो बैठते हैं। क्या इलाज है, जिससे हममें क्रोध, ईर्ष्या, भय इत्यादि आएँ ही नहीं और आएँ भी तो इनसे हम अशांत न हो उठें।

आखिर ये विकार क्यों आते हैं? अधिकांशत: किसी अप्रिय घटना की प्रतिक्रिया-स्वरूप आते हैं। तो क्या यह संभव है कि दुनिया में रहते हुए कोई अप्रिय घटना घटे ही नहीं? कोई प्रतिकूल परिस्थिति पैदा ही न हो? नहीं, यह किसी के लिए भी संभव नहीं। जीवन में प्रिय-अप्रिय—दोनों प्रकार की परिस्थितियाँ आती ही रहती हैं। प्रयास यही करना है कि विषम परिस्थिति पैदा होने के बावजूद हम अपने मन को शांत और संतुलित रख सकें। रास्ते में काँटे-कंकर रहेंगे ही। उपाय यही हो सकता है कि हम जूते पहनकर चलें। तेज वर्षा-धूप आएगी ही, बचाव इसी में है कि हम छाता तानकर चलें, यानी प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद हम अपनी सुरक्षा स्वयं करना सीखें।

सुरक्षा इसी में है कि कोई गाली दे, अपमान करे तो भी मैं क्षुब्ध न होकर निर्विकार बना रहूँ। यहाँ एक बात यह विचारणीय है कि किसी व्यक्ति द्वारा अयोग्य व्यवहार करने पर यानी उसमें दोष के कारण क्षोभ या विकार मुझे क्यों होता है? इसका कारण मुझमें यानी मेरे अचेतन मन में संचित अहंकार, आसक्ति, राग, द्वेष, मोह आदि की गाँठें हैं, जिन पर उक्त घटना के आघात लगने पर क्रोध, द्वेष आदि विकार चेतन मन पर उभरते हैं। इसलिए जिस व्यक्ति का अंतर्मन परम शुद्ध है, उसे ऐसी घटनाओं से कोई विकार या अशांति नहीं हो पाती।

परंतु प्रश्न यह है कि जब तक अंतर्मन परम शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक क्या किया जाए? मन में पूर्व संचित संस्कारों की गंदगियाँ तो हैं ही और इन्हीं के कारण किसी भी अप्रिय घटना का संपर्क होते ही नए विकारों का उभार आता ही है। ऐसी अवस्था में क्या करें?

एक उपाय तो यह है कि जब मन में कोई विकार जागे तो उसे दूसरी ओर लगा दें, किसी अन्य चिंतन में अथवा अन्य काम में, यानी वस्तुस्थिति से पलायन करें। परंतु यह सही उपाय नहीं है। जिसे हमने दूसरी ओर लगाया वह तो ऊपर-ऊपर का चेतन मन है। अंदर का अचेतन, अर्द्धचेतन मन तो उसी प्रकार क्षुब्ध होकर भीतर-ही-भीतर मूंज की रस्सी की तरह अकड़ता और गाँठें बांधता जाता है। भविष्य में जब कभी ये गाँठें उभरकर चेतन मन पर आवेंगी तब और अधिक अशांति और बेचैनी पैदा करेगी। अत: पलायन करना समस्या का सही समाधान नहीं है। रोग का सही इलाज नहीं है।

इसी समस्या के समाधान की खोज आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व इसी देश में भगवान गौतम बुद्ध ने की और लोगों के कल्याण के लिए इसे सर्व-सुलभ बनाया। उन्होंने अपनी अनुभूतियों के बल पर जाना कि ऐसे अवसर पर पलायन न करके वस्तुस्थिति का सामना करना चाहिए। क्रोध आया तो क्रोध जैसा है, उसे वैसा ही देखें। इससे क्रोध शांत होने लगेगा। इसी प्रकार जो विकार जागे, उसे यथाभूत देखने लगें तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाएगी। परंतु कठिनाई यह है कि जिस समय विकार जागता है, उस समय हमें होश नहीं रहता। क्रोध आने पर यह नहीं जानते हैं कि क्रोध आया है। क्रोध निकल जाने के बाद होश आता है। तब सोचते हैं कि बड़ी भूल हुई, जो क्रोध में आकर किसी को गाली दी या मार-पीट पर उतारू हो गए। इस बात को लेकर पश्चात्ताप करते हैं, परंतु दूसरी बार वैसी परिस्थिति आने पर फिर वैसा ही करते हैं।

वस्तुत: क्रोध आने पर तो हमें होश रह नहीं पाता। बाद में होश आने पर पश्चात्ताप करने से लाभ नहीं होता। चोर आए तब तो सोए रहें, परंतु उसके द्वारा घर का माल चुरा ले जाने के बाद जल्दी-जल्दी ताले लगाएँ तो इससे क्या लाभ? निकल भागने के बाद उस साँप की लकीर पीटते रहे तो क्या लाभ? विकार जागने पर होश कौन दिलाए? यह संभव नहीं है, और मान

लीजिए कि संभव हुआ भी, किसी ने अपने लिए कोई सहायकनियुक्त कर भी लिया और ऐन मौके पर उस सहायक ने सचेत भर कर दिया कि आपको क्रोध आ रहा है, आप क्रोध को देखिए, तो दूसरी कठिनाई यह है कि अमूर्त क्रोध को कोई कैसे देखे? जब क्रोध को देखने का प्रयास करते हैं तब जिसके कारण क्रोध आया है, वही आलंबन बार-बार मन में उभरता है और आग में घी का काम करता है। वही तो उद्दीपन है। उसी के चिंतन से विकार से छुटकारा कैसे होगा? बल्कि उसे बढ़ावा मिलेगा। तो एक और बड़ी समस्या है कि आलंबन से छुटकारा पाकर अमूर्त विकार को साक्षीभाव से कैसे देखा जाए?

अत: हमारे सामने दो समस्याएँ हैं। एक तो यह कि विकार के जागते ही हम सचेत कैसे हों? और दूसरी यह कि सचेत हो जाएँ तो अमूर्त विकार का साक्षीभाव से निरीक्षण कैसे कर सकें? उस महापुरुष ने प्रकृति की सच्चाइयों की गहराई तक खोज करके यह देखा कि किसी भी कारण से जब कभी मन में कोई विकार जागता है तब एक तो साँस की गति में अस्वाभाविकता आ जाती है और दूसरे शरीर के अंग-प्रत्यंग में सूक्ष्म स्तर पर किसी-न-किसी प्रकार की जीव-रासायनिक क्रिया होने लगती है। यदि इन दोनों को देखने का अभ्यास किया जाए तो परोक्ष रूप से अपने मन के विकार को देखने का काम ही होने लगता है और विकार स्वत: क्षींण होते-होते निर्मूल होने लगता है। साँस को देखने का अभ्यास 'आना पान सति' कहलाता है और शरीर में होनेवाली जीव रासायनिक प्रतिक्रियाओं का साक्षीभाव से देखने का अभ्यास विपश्यना कहलाता है।

दोनों एक-दूसरे से गहरे संबंधित हैं। इन दोनों का बहुत अच्छा अभ्यास हो जाए तो किसी भी कारण जब मन में विकार उठें तो पहला काम यह होगा कि साँस की बदली हुई गति और शरीर में उत्पन्न हुई किसी भी प्रकार की जीव-रासायनिक प्रतिक्रिया हमें सचेत करेगी कि चित्त-धारा में कोई विकार जाग रहा है। साँस और इस सूक्ष्म संवेदना को देखने लगें तो स्वभावत: उस समय के उठे हुए विकार का उपशमन, उन्मूलन होने लगेगा। जिस समय हम अपने साँस के लेने और छोड़ने को साक्षीभाव से देखते हैं अथवा शरीर की जीव -रासायनिक या विद्युत-चुंबकीय प्रतिक्रिया

को साक्षीभाव से देखते हैं, उस समय विकार उत्पन्न करनेवाले आलंबन से सहज ही संपर्क टूट जाता है।

ऐसा होना वस्तुस्थिति से पलायन नहीं है, क्योंकि अंतर्मन तक उस विकार ने जो हलचल पैदा कर दी, उस सच्चाई को अभिमुख होकर देख रहे हैं। सतत अभ्यास द्वारा अपने आपको देखने की यह कला जितनी पुष्ट होती है, उतनी ही स्वभाव का अंग बनती है और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आती है कि विकार जागते ही नहीं अथवा जागते हैं तो बहुत दीर्ध समय तक चल नहीं पाते या चलते भी हैं तो पत्थर की लकीर की तरह के संस्कार गहरे अंकित नहीं हो पाते, बल्कि पानी या बालू पर पड़ी लकीर जैसा हल्का-सा संस्कार बनता है, जिससे शीघ्र छुटकारा मिल जाता है। संस्कार जितना गहरा होता है,उतना ही अधिक दुखदायी और बंधनकारक होता है। जितनी शक्ति से और जितनी देर तक किसी विकार की प्रक्रिया चलती है, अंतर्मन पर उसकी उतनी ही गहरी लकीर पड़ती है।

अत: काम की बात यह है कि विकार जगते ही उसको साक्षीभाव से देखकर उसकी शक्ति-क्षीण कर दी जाए ताकि वह अधिक लंबे अर्से तक चलकर गहराई में न उतर सके। आग लगते ही उस पर पानी छिड़कें। कही ऐसा न हो कि पेट्रोल छिड़ककर उस आग को बढ़ावा दें। जगे हुए विकार को सचेत होकर तत्क्षण देखने लग जाना उस विकार की आग पर पानी छिड़कना है और जिस आलंबन को लेकर विकार जागा, बार-बार उसका चिंतन करना, उस पर पेट्रोल छिड़कना है। अपने अपमान की अप्रिय घटना को याद करते रहें तो द्वेष की लकीर को याद करके अधिक गहरी बना लेते हैं। उससे बाहर निकलना दूभर हो जाता है।

प्रकृति के कानून को 'ऋतु' कहते हैं। हम उसे ही 'धर्म' कहते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि जब हमारे मन में कोई विकार जागता है, तब हम अशांत हो जाते हैं और विकार से छुटकारा पाते ही अशांति से छुटकारा पा लेते हैं। सुख-शांति भोगने लगते हैं। प्रकृति के इस नियम को जानकर विकारों से छुटकारा पाने का कोई तरीका कोई महापुरुष धर्म के रूप में दुखियारे लोगों को देता है, परंतु अपने पागलपन से उन तरीकों को अपनाने के बजाय यानी धर्म को धारण करने के बजाय हम उसे वाद-विवाद का

विषय बनाकर सिद्धांतों की लड़ाई में पड़ जाते हैं और कोरे दार्शनिक बुद्धि-विलास से पारस्परिक विद्रोह बढ़ाकर अपनी हानि करते हैं। विपश्यना दार्शनिक सिद्धांतों का संघर्ष नहीं है। हर व्यक्ति ज्ञानचक्षु द्वारा अपने-आपको देखे, स्व का निरीक्षण करे, अपने भीतर जब विकारों की आग लगे तब उसे स्वयं देखकर बुझाए।

यही सम्यक् दर्शन है। यही 'स्व' का निरीक्षण है। ज्ञान-चक्षु से निरीक्षण है। अनुभूतियों के स्तर पर सत्य निरीक्षण है। जागरूक रहकर यथावत् सत्य को देखने का अभ्यास विपश्यना है। इसको बुद्धि-विलास का विषय बनाने से कोई लाभ नहीं। पढ़ने-सुनने या चर्चा-परिचर्चा से बौद्धिक स्तर पर विषय समझ लिया जा सकता है। इससे कुछ प्रेरणा मिल सकती है, परंतु वास्तविक लाभ अभ्यास करने में है। अपने मन को विकारों से विकृत न होने दें, सदा सचेत रहकर स्व का निरीक्षण करते रहें, यह काम बिना अभ्यास के संभव नहीं है। जन्म-जन्मांतरों से मन पर संस्कारों, विकारों की जो परतें पड़ीं और नए-नए विकार बनाते रहने का जो स्वभाव बन गया, उससे छुटकारा पाने के लिए साधना का अभ्यास नितांत आवश्यक है। उसे केवल सैद्धांतिक स्तर पर जान लेना पर्याप्त नहीं है और न केवल दस दिनों का एक शिविर ही काफी है। सतत अभ्यास की आवश्यकता है।

मात्र दस दिन के अभ्यास से कोई व्यक्ति पारंगत नहीं हो सकता। दस दिन में तो भविष्य में अभ्यास करने की एक विधि हाथ लगती है। अभ्यास पूरे जीवन तक का है। जीवन जीने की कला पुष्ट होती है। आत्म-सजगता बढ़ती है तो आचरण सुधरते हैं, चित निर्मल, निर्विकार होता है। निर्मल-निर्विकार चित्त मैत्री, करुणा, मुदिता और समता के सद्गुणों से स्वभावतः भरता है। साधक स्वयं तो कृतकृत्य होता ही है, समाज के लिए भी सुख-शांति का कारण बनता है।

सौभाग्य से यह आत्म-निरीक्षण यानी स्व-निरीक्षण का अभ्यास, विपश्यना की साधना-विधि ब्रह्मदेश में दो हजार पच्चीस सौ वर्ष से आज तक अपने शुद्ध रूप में जीवित है। मुझे सौभाग्य से इस विधि को वहीं सीखने का कल्याणकारी अवसर प्राप्त हुआ। शारीरिक रोग के साथ-साथ मानसिक विकारों और आसक्ति-भरे तनावों से छुटकारा पाने का रास्ता मिला। सचमुच एक नया जीवन

ही मिला। धर्म का मर्म जीवन में उतार सकने की एक मंगल विधा प्राप्त हुई। अब भारत में हूँ। यह विधि तो इसी देश की पुरातन निधि है। पवित्र संपदा है। किसी भी कारण से यहाँ विलुप्त हो गई। मैं तो भगीरथ की तरह इस खोई हुई धर्म-गंगा का ब्रह्मदेश से यहाँ, इस देश में, पुनः ले आया हूँ और इसे अपना बड़ा सौभाग्य मानता हूँ।

याद करता हूँ कि विकारों से विकृत होकर मैं कितना दुखी रहा करता था और इन विकारों से छुटकारा पाकर कितना दुख-मुक्त हुआ, सुखलाभी हुआ। इसलिए जी चाहता है कि अधिक-से-अधिक लोग, जो अपने विकारों से विकृत हैं और इसलिए दुखी हैं, इस कल्याणकारी विधि द्वारा विकारों से छुटकारा पाना सीखें और दुख-मुक्त होकर सुखलाभी हों। याद करता हूँ कि जब मैं विकारों से विकृत होकर दुखी होता था तो अपना दुख अपने तक सीमित न रखकर औरों को बाँटता था। औरों को भी दुखी बनाता था। उस समय मेरे पास बाँटने के लिए दुख ही था। अब जी चाहता कि इस कल्याणकारी विधि जितना-जितना विकारों से मुक्त हुआ और फलतः जो भी यत्किंचित सुख-शांति मिली, उसे लोगों में बाँटूँ। इसे बाँटने पर सुख-संवर्धन होता है। मन प्रसन्न होता है। इन दस दिन के शिविरों में लोग अक्सर मुरझाए हुए चेहरे लेकर आते हैं और शिविर समाप्ति पर खिले हुए चेहरों से घर लौटते हैं तो सचमुच मन सुख-संतोष से भर उठता है। अधिक-से-अधिक लोग इस मंगलकारी विधि का लाभ उठाकर सुखलाभी हों, अधिक-से-अधिक लोगों का भला हो, कल्याण हो, मंगल हो, यही धर्म-कामना है।

3

साधना के दस दिन : प्रवचन-प्रवाह

पहला दिन

आज हमारी साधना का पहला दिन पूरा हुआ। पहला दिन थोड़ा कठिनाइयों का होता है। एक छोटा-सा कारण, शिविर की व्यवस्था से संबंधित है। नए-नए साधकों को शिविर की व्यवस्था में कई असुविधाएँ अनुभव होती हैं। केवल रहन-सहन की ही नहीं। शरीर ने भी अपना स्वभाव बना लिया है, मन ने भी। अपने स्वभाव के बाहर निकलना न शरीर को पसंद है, न मन को। शरीर और मन, दोनों विद्रोह करने लगते हैं।

मन में कई शंकाएँ पैदा होती हैं। कोई साधक किसी अमुक साधना या ध्यान का अभ्यासी है तो मन में विचार आता है कि यहाँ मैं क्या कर रहा हूँ? कहीं कोई धर्म-विरोधी कार्य तो नहीं कर रहा? इत्यादि।

प्रत्येक साधक को यह खूब समझ लेना चाहिए कि इस साधना में कहीं भी अंध-विश्वास या कल्पना को स्थान नहीं है। सारा-का-सारा बोधि का मार्ग है, सत्य का मार्ग है, ज्ञान का मार्ग है, स्वयं तपने का मार्ग है, पुरुषार्थ का मार्ग है।

परंतु हर शाम को धर्म-चर्चा होगी—साधना-मार्ग का स्पष्टीकरण करने तथा साधना-विधि को समझाने के लिए। पहले तो हम यह समझेंगे कि इस साधना का लक्ष्य क्या है? साधना का लक्ष्य चित्त को पूर्ण रूप से निर्मल करना है, शुद्ध करना है। इसका पहला कदम चित्त को एकाग्र करना है। लक्ष्य की ओर जाने की यह पहली सीढ़ी है। इस साधना के द्वारा हम सुख तथा शांतिपूर्वक जीवन जीने की कला सीखेंगे।

हम अनुभव करते हैं कि हमारे जीवन में कितना तनाव है, खिंचाव है, बेचैनी है, अशांति है, व्याकुलता है। हमारे पास सब साधन हों, संपत्ति हो तो भी हम दुखी रहते हैं। इनका अभाव है तो दुखी हैं ही। मन का यह रोग सार्वजनीन है, सार्वकालिक है, सार्वदेशिक है।

यदि हम मन के इस रोग का कारण जान लें तो इसे दूर अवश्य कर सकेंगे। रोग का कारण मन के विकार हैं। यदि हमारा मन इन विकारों से मुक्त हो जाए, शुद्ध हो जाए, निर्मल हो जाए तो हम दुख से, अशांति से, बेचैनी से अपने-आप दूर हो जाएँगे। चित्त के निर्मल होने पर किसी के प्रति ईर्ष्या या द्वेष नहीं जागेगा। निर्मल चित्त प्यार से, करुणा से, मुदिता से, समता से भर-भर उठेगा। हमारा मन सदा संतुलित रहेगा। यही कल्याण का मार्ग है।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हमने साँस को देखना शुरू किया। किस प्रकार हमारा साँस आ रहा है, जा रहा है। केवल यही देखना शुरू किया। इसके साथ किसी नाम, मंत्र या रूप को नहीं जोड़ा। इस साधना का संबंध किसी संप्रदाय या मान्यता से नहीं। यदि हम किसी नाम, मंत्र या रूप को जोड़ देते तो उससे संबंधित संप्रदाय से बँध जाते। तब यह अभ्यास सबके लिए ग्राह्य तथा स्वीकार करने योग्य नहीं होता। सार्वजनीन रोग के लिए सार्वजनीन इलाज की ही आवश्यकता है। हमने इसीलिए शुद्ध साँस का सहारा लिया।

एक और बड़ा कारण है। हमारे साँस का हमारे विकारों से गहरा संबंध है। जब-जब मन में क्रोध जागे, भय जागे, वासना जागे, हमारे साँस की गति तेज हो जाएगी। जैसे ही विकार दूर हो जाएगा, साँस फिर अपने आप धीमा और अपनी साधारण गति से चलने लगेगा। साँस को देखते-देखते हम अपने विकारों को देख सकेंगे। ज्यों ही हमने विकारों को देखना शुरू किया, चित्त की सफाई का काम शुरू हो गया। विकारों को जानने के लिए साँस का माध्यम अत्यंत महत्त्व का है। इसके साथ यदि हम किसी नाम, मंत्र या रूप को जोड़ देते तो साँस अपनी जगह रह जाता और मन उस शब्द की गूँज में, उसका बार-बार उच्चारण करने में या उस रूप की कल्पना में डूब जाता। मन एकाग्र तो हो जाता, शांति भी मिलती, लेकिन हम अपने विकारों तक नहीं पहुँच पाते। यदि हमें अपने विकारों को देखना है, मन की अंतरतम

गहराइयों तक पहुँचना है, जहाँ हमारे विकार एकत्र हैं, संग्रहीत हैं, तो हमें बीच में कोई दीवार नहीं खड़ी करनी है। विकारों से सीधा संपर्क आवश्यक है। इसीलिए हमने शुद्ध साँस का सहारा लिया, ताकि विकारों को दूर कर सकें।

मनुष्य ने जब से जन्म लिया है, आँख खोलकर बाहरी दुनिया को ही देखा है। सदैव बहिर्मुखी-ही-बहिर्मुखी। कभी अंतर्मुखी होकर अपने को देखा ही नहीं। यह सारा शरीर -प्रपंच जिसे, 'मैं-मैं', 'मेरा-मेरा' कहे जा रहा हूँ, यह सारा मानसिक प्रपंच, जिसे 'मैं-मैं', 'मेरा-मेरा' कहे जा रहा हूँ—यह सब क्या है ? अपने शरीर के बारे में, मन के बारे में बौद्धिक स्तर पर खूब जानकारी होगी। लेकिन अनुभूतियों के स्तर पर कुछ भी ज्ञान नहीं है। अनुभूतियों के द्वारा यह भी नहीं जाना कि शरीर और चित्त के परे भी कोई अवस्था है।

सत्य की खोज में निकलनेवाला साधक किसी कल्पना को स्थान नहीं देगा। यह जो हमने साँस का सहारा लिया और इसके साथ किसी कल्पना को जोड़ने नहीं दिया, इसका मुख्य कारण यही है कि हम सच्चाई को जान रहे हैं—'मैं साँस ले रहा हूँ।' भले ही यह एक मोटा सत्य है, पर है सत्य। कोई कल्पना नहीं।

हम अपने शरीर और मन के प्रपँच को देखेंगे। खूब देखेंगे। हमारे विभिन्न बाहरी अंग—हाथ, पैर, आँख आदि—हमारी इच्छा के अनुसार काम करते हैं, लेकिन शरीर के भीतर के जो अंग हैं—फेफड़े, हृदय आदि-हमारे आदेश का इंतजार नहीं करते। निरंतर प्रकृति के नियम के अनुसार काम करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त हमारा सारा शरीर जो नन्हे-नन्हे परमाणुओं से, जीव-कोषों से बना है, उनमें कुछ-न-कुछ खटपट होती ही रहती हैं। समग्र शरीर-पिंड में कुछ-न-कुछ जीव रासायनिक प्रतिक्रिया, विद्युत चुंबकीय प्रतिक्रिया, निरंतर होती रहती है। वह सच्चाई अनुभूति से जानेंगे।

शरीर के बारे में सुना है, शास्त्रों में पढ़ा है कि यह नश्वर है, भंगुर है। मन के बारे में भी सुना है कि यह चंचल है, चपल है। लेकिन अनुभूति के स्तर पर यह बात नहीं जानी। इसीलिए शरीर और मन के प्रति बड़ी आसक्ति है। यह आसक्ति केवल बौद्धिक-स्तर की जानकारी से टूटनेवाली नहीं है।

इसलिए हमारे यहाँ सत्य के साक्षात्कार को इतना महत्त्व दिया गया। सत्य को ही ईश्वर माना गया।

सत्य का साक्षात्कार स्थूल से ही आरंभ होता है और सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर और सुक्ष्मतर से सूक्ष्मतम होता हुआ परम सत्य तक पहुँच जाता है। यदि हमें परम सत्य का साक्षात्कार करना है, जो अवस्था इंद्रियातीत है, भवातीत है, लोकातीत है, वहाँ तक पहुँचना है तो हमें इंद्रिय जगत के क्षेत्र की स्वयं यात्रा करके अनुभूतियों के क्षेत्र से गुजरना ही पड़ेगा।

आज दिन भर अभ्यास करते-करते एक बात बड़ी स्पष्ट हो गई। मन की चंचलता के बारे में खूब सुना था, पढ़ा था। अब अनुभव हो गया कि मन एक क्षण भी नहीं टिकता। मन की चंचलता के साथ एक और बात स्पष्ट हुई कि या तो यह भूतकाल की याद में भागता है अथवा भविष्य की कल्पना की ओर। एक क्षण भी वर्तमान में नहीं रहना चाहता। मन की इस प्रकार की गति इसका स्वभाव बन गई है। जीवन भर हम या तो भूतकाल की सुखद या दुखद स्मृतियों में अथवा भविष्य की सुखद या दुखद कल्पनाओं में खोए रहते हैं। इसी से असंतुष्ट, असंतुलित और बेचैन रहते हैं।

साधना के अभ्यास द्वारा आरंभ हुआ वर्तमान में जीने का कार्य। मन को सिखाने लगे कि देख इस साँस को—"जो आ रहा है या जा रहा है।" यह इस क्षण की घटना, इस क्षण की सच्चाई है। मन को सिखाने लगे कि भूतकाल की स्मृतियों और भविष्य की आकांक्षाओं से हटकर वर्तमान में रहना सीख। ज्यों ही वर्तमान में रहना आने लगेगा, बहुत-से रहस्य सामने आएँगे। जैसे-जैसे हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलेंगे, ज्ञात से अज्ञात को भी जानने लगेंगे। इस प्रयत्न में साँस एक कड़ी का काम करेगा, एक पुल का काम करेगा।

मन के बारे में एक बात और सामने आई कि मन कभी एक बात पर नहीं टिकता। कभी एक बात तो कभी दूसरी बात, सो भी ऐसी बातें, जिनका कोई तारतम्य नहीं, तालमेल ही नहीं! केवल उलझन-ही-उलझन है, मानो होश ही नहीं है।

इस प्रकार मन का एक और रहस्य स्पष्ट होने लगा। जब कभी मन सुखद स्मृति की कल्पना में डूबा रहता है तो बड़ी चाह रहती है कि वह स्मृति

कायम रहे, वह स्थिति पुन: प्राप्त हो। इसी प्रकार दुखद कल्पना और दुखद स्थिति को हमेशा टालने की चाह रहती है। ये रोग, द्वेष और मोह-मूढ़ता (बेहोशी) की स्थितियाँ बनी ही रहती हैं। कहाँ शांति है? कहाँ सुख है जीवन में? हमारे मन के सारे-के-सारे विकारों की जननी ये तीनों अवस्थाएँ हैं—राग, द्वेष और मोह की।

यह सारा अभ्यास हमें चित्त की निर्मलता की ओर ले जानेवाला है। इसमें पहला कदम चित्त को एकाग्र करने का है। यह कदम भी थोड़ा-बहुत मैल उतरनेवाला होना ही चाहिए।

कैसे? हम केवल साँस को देख रहे हैं, जान रहे हैं तो हमारा संबंध भूतकाल की स्मृतियों और भविष्य की कल्पनाओं से टूट रहा है। एक तरह से राग और द्वेष से टूट रहा है। यथाभूत साँस को देखने में कहाँ रोग पैदा होगा? कहाँ द्वेष पैदा होगा? जो साँस अपने स्वभाव से चल रहा है उसे शांति से, दृढ़ता से देख रहे हैं। उस क्षण हम मोह से भी दूर हैं, क्योंकि किसी कल्पना में नहीं उलझ रहे। दिन भर के अभ्यास में कुछ क्षण ऐसे आते ही हैं, जब हम केवल साँस को देख रहे हैं। ये क्षण बड़े महत्त्व के हैं। उस क्षण का चित्त निर्मल हुआ।

इसी प्रकार एक और रहस्य प्रकट होता है। जब हमारे अंतरतम में संग्रहीत विकार-समूह से निर्मल चित्त का संपर्क होता है तो बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया होती है। एक तूफान सा उठता है, ज्वालामुखी-सा फूटता है। मन और शरीर का गहरा संबंध है। अत: यह प्रतिक्रिया शरीर में प्रकट होती है। किसी का पाँव टूटने लगता है तो किसी की कमर फटने लगती है। किसी का सिर चकराता है तो किसी का जी घबराता है। किसी का भाग जाने का मन करता है तो किसी को नींद ही आने लगती है। यह सब क्यों होता है। हमारा अभ्यास चित्त को अपने स्वभाव से पलटने का प्रयास है। यह प्रतिक्रिया इस प्रयास के विरुद्ध होती है। इन पीड़ाओं का बड़ा कारण मन की विपरीत प्रतिक्रिया का शरीर पर प्रकटीकरण है। जैसे-जैसे हम अपने अभ्यास में पुष्ट होते जाएँगे, ये प्रतिक्रिया कम होने लगेंगी। धीरे-धीरे हमने अपने मन में जो विकार इकट्ठे कर रखे हैं, उनका शमन होने लगेगा। उन्हें धोते चले जाएँगे, साफ करते चले जाएँगे। यदि हम दृढ़ता के साथ साधना में लगे रहेंगे तो इन

प्रतिक्रियाओं को जड़ से उखाड़ देंगे। चित्त स्वभाव से निर्मल हो जाएगा। हमें जीना आ जाएगा। सुख से जिएँगे, शांति से जिएँगे। हम अपने भीतर शांति का अनुभव करेंगे और जिन लोगों के साथ हमारा संपर्क होगा, उन्हें भी शांत और सुखी करेंगे।

इस अभ्यास में हमारे सामने कुछ कठिनाइयाँ आती हैं, उनसे अलग रहेंगे।

दस दिन तक इस साधना का अभ्यास करते हुए किसी अन्य साधना या अभ्यास को इसके साथ नहीं जोड़ेंगे। ऐसा होने पर बड़ी हानि होने की आशंका है। भोजन में संयम रखना भी अत्यंत आवश्यक है। जितना भोजन एक बार में हम करने के अभ्यस्त हैं, यहाँ उससे भी कम भोजन करेंगे। शारीरिक थकान को कम करने के लिए भले हम एक बार में पाँच मिनट लेटकर भी अभ्यास कर लें, लेकिन ऐसे न लेटें कि नींद ही आने लगे। एक अन्य कठिनाई, खासकर हम भारतीय साधकों की है। हमें बात करने का बड़ा शौक है। मौन व्रत रखते हुए भी बात करने की बड़ी चाह रहती है। साधना की सफलता के लिए मौन, पूर्ण मौन, आर्य मौन, रखना नितांत आवश्यक है।

साधना प्रारंभ करने के पहले पंचशील पालन करने का व्रत लिया। यह कोई कर्मकांड पूरा करने के लिए नहीं है। इस व्रत का कड़ाई से पालन करना है। ये शील हमारी साधना की आधार-शिलाएँ हैं। हमें शील को पुष्ट करना है। शील की दृढ़ता तथा निष्ठा से पालन हमें सम्यक् एकाग्रता यानी सम्यक् समाधि प्राप्त करने और प्रज्ञा को जगाने में सहायक होगा। इससे चित्त केविकार निकलने शुरू होंगे और निर्मलता आने लगेगी।

आओ लोगो जगत के, चलें धरम के पंथ।
इस पथ चलते ज्ञानिजन, इस पथ चलते संत॥

धरम पंथ ही शांति पथ, धरम पंथ सुख पंथ।
धरम पंथ पर जो चले, मंगल जगे अनंत॥

आओ मानव मानवी, चलें धरम के पंथ।
कदम-कदम चलते हुए, करें दुखों का अंत॥

आते-जाते साँस की, रहे निरंतर ध्यान।
मन सुधरे मंगल सधे, होय परम कल्याण॥

धरम-धरम तो सब कहें, धरम न समझे कोय।
निरमल मन का आचरण, सत्य धरम है सोय॥

धरम न हिंदू बौद्ध है, सिक्ख न मुसलिम जैन।
धरम चित्त की शुद्धता, धरम शांति सुख चैन॥

दूसरा दिन

हमारी साधना का दूसरा दिन पूरा हुआ। कठिनाइयों की दृष्टि से दूसरा दिन पहले दिन से जरा अच्छा, लेकिन कठिनाइयाँ तो हैं ही। इनका सामना करना होगा। साधना की सफलता के लिए दो बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। एक तो यह कि जैसे बताया जाए, ठीक वैसे की काम करें। अपनी ओर से न कुछ जोड़ें, न तोड़ें। दूसरे, खूब धीरज से काम करें—उतावलेपन से नहीं, व्यग्र होकर नहीं, उत्कंठित होकर नहीं। मन का स्वभाव बहुत चंचल हो गया है। जब यह मालूम हो जाए कि मन भाग गया है, भटक गया है तो इसकी वजह से व्यग्र न हों, निराश न हों। इस सच्चाई को मुस्कराकर स्वीकार करें। मन तुरंत वापस लौट आएगा। मन को वापस लाने में तनाव नहीं पैदा करना है। केवल जानना है। इस क्षण की सच्चाई को जानते रहना है। बस, यही पर्याप्त है। बराबर काम में लगे रहें। प्रमाद न हो।

यदि धीरज से काम करते रहेंगे तो लक्ष्य तक पहुँच ही जाएँगे। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए स्वयं प्रयत्न करना है, परिश्रम करना है। स्वयं पुरुषार्थ करना है, पराक्रम करना है।

आज हम मोटे तौर पर यह समझ लें कि जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह रास्ता क्या है? भगवान बुद्ध के जीवनकाल की एक घटना है। एक बुढ़िया माई भगवान बुद्ध के पास आई। उसने पूछा, ''महाराज! मुझे धर्म-मार्ग ऐसी सरल भाषा में समझाएँ, जिसे मैं समझूँ और उस पर चल सकूँ।'' भगवान ने उस समय की जन-भाषा में समझाया :

''सब्ब पापस्स अकरणं, कुसलस्स उप सम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धानसासनं॥''

(सभी प्रकार के पापों को न करना, कुशल कर्मों का संपादन करना, अपने चित्त को निर्मल करना—यही समस्त बुद्धों की शिक्षा है)

पाप कर्म क्या होते हैं? और कुशल कर्म क्या होते हैं? अपनी वाणी या शरीर से दूसरे प्राणियों की हानि करना ही पाप है। जिस कर्म से दूसरों को सुख पहुँचता हो, शांति मिलती हो, उनका मंगल होता हो, वही पुण्य है, वही कुशल कर्म है। जो कर्म दूसरों को हानि पहुँचाए, उससे बचें और जो दूसरों को लाभ पहुँचाए, वही करें। औरों को हानि पहुँचानेवाला कर्म स्वयं की भी

हानि करता है। औरों को लाभ पहुँचानेवाला कर्म स्वयं को भी लाभ पहुँचाता है। यह कुदरत का नियम है, विश्व का विधान है। जैसा बीज बोएँगे, वैसा ही फल आएगा। प्रकृति के इस कानून को समझकर इसके अनुसार चलना ही धर्म है।

भगवान बुद्ध ने तीसरी बात चित्त को निर्मल करने का कही। ज्यों-ज्यों चित्त निर्मल होता जाएगा, अपने आप दुष्कर्म नहीं होंगे। चित्त मैला होता है, तभी वाणी और शरीर से दुष्कर्म होते हैं। जब चित्त निर्मल हो जाएगा, तो अनंत करुणा, मैत्री, मुदिता और अनंत समता से भर जाएगा। निर्मल-चित्त व्यक्ति किसी को हानि नहीं पहुँचा सकता। वह तो कल्याण ही करेगा।

चित्त की इस अवस्था तक पहुँचने के लिए धर्म के मार्ग पर एक-एक कदम चलते हुए अभ्यास स्वयं करना होगा। इस मार्ग को जरा विवरण के साथ समझें। उन दिनों की भाषा में इस धर्म-मार्ग को, मंगल-मांर्ग को, मुक्ति मार्ग को, विशुद्धि मार्ग को, 'अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो' कहा गया, यानी आठ अंगवाला ऐसा मार्ग, जो हमें आर्य बना दे। 'आर्य' शब्द का आज किसी जाति-विशेष के लिए प्रयोग होने लगा। भारतवर्ष की पच्चीस सौ वर्ष पहले की जन-भाषा में आर्य कहते थे— संत व्यक्ति को, सज्जन व्यक्ति को, भले आदमी को, निर्मल चित्त व्यक्ति को। जो व्यक्ति संत नहीं हुआ हो, निर्मल चित्त यानी दूषित हो वह 'अनार्य' कहलाता था।

यह आठ अंगवाला मार्ग किसी संप्रदाय का मार्ग नहीं है। यह सार्वजनीन मार्ग है, जो हर व्यक्ति को आर्य बना देता है, वह चाहे जिस संप्रदाय का, जाति का, मान्यता का या रंग-रूप का हो। मनुष्य तो मनुष्य ही है, एकदम पलट जाएगा। इस पर चलकर देखें। किसी के कहने से नहीं मानें, स्वयं अनुभव करें।

आओ, इस मार्ग को समझें। इस मार्ग के तीन भाग हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा।

शील का अर्थ है सदाचार। शील के अंतर्गत धर्म के तीन अंग आते हैं :

''सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्तं और सम्मा आजीवो।''

'सम्मा वाचा' अर्थात् सम्यक् वाणी। वाणी शुद्ध होनी चाहिए, पवित्र होनी चाहिए। वाणी की शुद्धता, निर्मलता को समझने के लिए यह जानना

आवश्यक है कि वाणी का मैल क्या है? जो झूठ बोलकर ठगता है, कड़वी-कटु बात बोलकर जी दुखाता है, चुगली की बात करके परस्पर प्रेम को तुड़वाता है, फजूल-निरर्थक बात कर समय नष्ट करता है, वह वाणी को मैला करता है। वाणी के इन चार प्रकार के मैल से बचें। वाणी अपने-आप पवित्र हो जाएगी, शुद्ध हो जाएगी।

'सम्मा कम्मन्तं' अर्थात् शरीर के कर्म सम्यक् हों। कर्मान्त् इसलिए कहा कि हर कर्म का प्रारंभ मन से होता है। फिर वाणी पर उतरता है और आगे बढ़कर शरीर पर उतरता है। इसीलिए 'कर्मांत' कहा। शरीर को हर कर्म शुद्ध, पवित्र होना चाहिए। शरीर के कर्म की शुद्धता को समझने के लिए यह समझें कि शरीर का मैल क्या है? शरीर के चार प्रकार के मैले कर्म हैं— किसी प्राणी की हत्या करना, किसी दूसरे की वस्तु को चुराना, व्यभिचार करना और मादक पदार्थों का सेवन करना। शरीर के इन चार दुष्कर्मों से बचें, शरीर के कर्म अपने-आप निर्मल हो जाएँगे।

शील के अंतर्गत धर्म का तीसरा अंग है 'सम्मा आजीवो', सम्यक् आजीविका। हर व्यक्ति को जीवन-यापन के लिए कोई-न-कोई कार्य करना आवश्यक है, चाहे वह नौकरी हो या व्यवसाय। इसमें मापदंड यही है कि आजीविका के साधन में अन्य किसी की हानि न हो। जिससे हमें आय होती है, आमदनी होती है, उसे हम धोखा न दें। बस, यही सम्यक् आजीविका है।

धर्म का दूसरा क्षेत्र है समाधि। यदि धर्म मात्र शील-सदाचार के उपदेशों पर ही आकर रुक जाता है तो धर्म धर्म नहीं होता। शील सदाचार के उपदेश तो हमेशा से सुनते आए हैं। "दुष्कर्म नहीं करना चाहिए", यह बात बुद्धि के स्तर पर खूब समझ में आती है, अच्छी भी लगती है, लेकिन जब करने का समय आता है तो दुष्कर्म हो ही जाता है, क्योंकि मन वश में नहीं है। समाधि द्वारा मन वश में किया जाता है। इसके तीन प्रसंग हैं :

"सम्मा वायामो, सम्मा सति, सम्मा समाधि।"

"सम्मा वायामो" का अर्थ है सम्यक् व्यायाम, सम्यक् कसरत। जिस प्रकार शरीर के विकार, शरीर के रोग दूर करने के लिए उचित व्यायाम, कसरत आवश्यक है, उसी प्रकार मन के विकार दूर करने के लिए, मन की निर्बलता दूर करने के लिए मन का व्यायाम आवश्यक है। मन का यह

व्यायाम क्या है ? अपने ही मन का निरीक्षण करते हैं और देखते हैं कि मन में यह खराबी है, यह बुराई है तो उसे निकालने का प्रयास करते हैं। फिर मन को देखते हैं और पाते हैं कि मन में किसी प्रकार की बुराई नहीं है तो मन के दरवाजे बंद कर लेते हैं और प्रयत्न करते हैं कि जो बुराई मन में नहीं है, वह आने न पाए। फिर मन को देखते हैं और पाते हैं कि मन में यह सद्गुण है, अच्छाई है तो प्रयत्न करते हैं कि वे कायम रहें, उनका संवर्धन हो, उन्हें बढ़ावें। फिर मन का निरीक्षण करते हैं और अनुभव करते हैं कि मन में अमुक सद्गुण तो हैं ही नहीं, वे आने चाहिए। इसलिए प्रयास करते हैं कि वे सद्गुण प्राप्त हों—बस, यही चारों मन के सम्यक् व्यायाम हैं।

समाधि का अगला अंग है 'सम्मा सति', सम्यक् स्मृति। पच्चीस सौ वर्ष में भाषा बदल जाती है, अर्थ बदल जाते हैं। आज तो स्मृति कहते हैं याददाश्त को, स्मरण-शक्ति को। उन दिनों स्मृति का मुख्य अर्थ था जागरूकता, सावधानी। जागरूकता वर्तमान क्षण की हुआ करती है। बीते हुए क्षणों के प्रति कोई सावधान नहीं रह सकता, उनका तो केवल स्मरण ही होता है। हम वर्तमान क्षण के प्रति जितने-जितने सजग हैं उतनी-उतनी सम्यक् स्मृति है। अपने बारे में इस क्षण की सच्चाई है, बस इसी को महत्त्व देना है। हम देख रहे हैं कि मन अपनी पुरानी आदत के अनुसार भागता है—कभी भूत में तो कभी भविष्य में। प्रयत्न करते हैं, उसे वर्तमान पर लाते हैं। देखते हैं, सांस आ रहा है, जा रहा है, स्पर्श कर रहा है, नहीं स्पर्श कर रहा है। जो भी मानसिक स्थिति है, उसी को देख रहे हैं। स्थूल से शुरू करके सूक्ष्मता की ओर उतरने लगे।

पहले स्थूल-स्थूल बातें जान लीं, मोटा-मोटा सांस जान लिया। फिर जरा सूक्ष्म सांस जान लिया, फिर साँस का छूना जान लिया। अब इससे ज्यादा सूक्ष्म बात जानने की कोशिश करेंगे। एक ओर सांस को जानते रहेंगे, दूसरी ओर यह जानेंगे कि नाक के त्रिकोण का जो स्थान हमने चुना है वहाँ और क्या हो रहा है ? साँस के स्पर्श की कुछ-न-कुछ प्रतिक्रिया हो ही रही है। मालूम होने लगेगा कि जो साँस भीतर की ओर आ रहा है, वह शीतल-सा लगता है, जो बाहर जाता है वह उष्ण-सा लगता है। यह प्रकृति के नियम के अनुसार बाहर और भीतर के वातावरण के प्रभाव से हो रहा है। यह वर्तमान की

सच्चाई है, कल्पना नहीं है। धीरे-धीरे अन्य सच्चाइयाँ प्रकट होने लगेंगी। ज्यों-ज्यों मन सूक्ष्म होने लगेगा, शरीर के अंदर जो-जो जीव-रासायनिक, विद्युत्-चुंबकीय प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं, उनका अनुभव करने लगेगा।

फिलहाल तो अभ्यास को नाक के इस त्रिकोण तक ही सीमित रखना है। इसी सीमा के अंदर देखेंगे कि कभी भारीपन मालूम हो रहा है तो कभी हल्कापन, कभी शीतलता तो कभी गर्मी, कभी खुजलाहट तो कभी कुछ और। किसी समय क्या होगा, इसकी पूर्व धारणा नहीं होनी चाहिए, पूर्व कल्पना नहीं होनी चाहिए। स्वभाव से अपने-आप जो हो रहा है, उसे ही देखेंगे। जागरूक रहकर वर्तमान की सच्चाई को देखेंगे। यही सम्यक् स्मृति है। इसके द्वारा हम अनुभूतियों के स्तर पर ज्ञात से अज्ञात क्षेत्र को जानेंगे।

इस क्षेत्र का तीसरा अंग है 'सम्मा समाधि', सम्यक् समाधि। समाधि का अर्थ है चित्त की एकाग्रता। मन किसी भी आलंबन को लेकर एकाग्र हो सकता है, लेकिन मन की एकाग्रता मात्र सम्यक् समाधि नहीं है। आलंबन को लेकर यदि हम राग पैदा कर रहे हैं, द्वेष पैदा कर रहे हैं तो यह सम्यक् समाधि नहीं है। आलंबन को देखने का हमारा प्रयत्न राग, द्वेष और मोह-विहीन हो। बस, यही सम्यक् समाधि है।

यह जो हम साँस को देख रहे हैं तो न राग जागता है, न द्वेष जागता है और न ही कोई भ्रम-भ्राँति यानी मोह-मूढ़ता है। साँस आ रहा है, जा रहा है—इसी को देख रहे हैं। यदि कोई संवेदना मालूम हो रही है तो उसे भी राग, द्वेष और मोह-विहीन होकर देख रहे हैं। ऐसी समाधि में स्थित व्यक्ति राग, द्वेष और मोह-विहीन अवस्थाओं में वर्तमान क्षण की सच्चाई के प्रति सतत जागरूक है। यही सम्यक् समाधि है, शुद्ध समाधि है, निर्मल समाधि है।

प्रज्ञा की चर्चा कल करेंगे।

क्षण-क्षण, क्षण-क्षण बीतते, जीवन बीतत जाय।
क्षण-क्षण का उपयोग कर, बीता क्षण नहिं आय।।

अपना भी होवे भला, भला सभी का होय।
जन-जन का मंगल सधे, शुद्ध धरम है सोय।।

साँस देखते-देखते, सत्य प्रगटता जाय।
सत्य देखते-देखते, परम सत्य दिख जाय।।

धरम न मिथ्या मान्यता, धरम न मिथ्याचार।
धरम न मिथ्या कल्पना, धरम सत्य का सार।।

जब-जब अंतर जगत में, जागे चित्त विकार।
मैं भी दुखिया हो उठूँ, दुखी करूँ संसार।।

हिंदू हो या बौद्ध हो, मुसलिम हो या जैन।
जब-जब मन मैला करे, तब-तब हो बेचैन।।

तीसरा दिन

आज हमारी साधना के तीन दिन पूरे हुए। कल दोपहर को विपश्यना दी जाएगी। तब तक के लिए स्मृति का अभ्यास करना है और समाधि को पुष्ट करना है। मन को और अधिक सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण बनाना है।

ध्यान केस्थान को जरा छोटा करना होगा। अब नासिका के नीचे ऊपरवाले होंठ तक का जो स्थान है, उस पर जो संवेदना मालूम हो, उसे महत्त्व देंगे। उसे देखेंगे।

संवेदना शब्द को लेकर कभी-कभी साधकों के मन में एक भ्रम, एक भ्रांति क्यों पैदा होती है? क्योंकि ध्यान के नाम पर हमने बहुत-से बौद्धिक लेप लगा लिये हैं तो किसी अलौकिक अनुभूति की अपेक्षा होती है। लेकिन यह विधि अपने-आप में निराली है। यहाँ किसी अलौकिकता के पीछे नहीं दौड़ना है। जो स्वाभाविक है, नैसर्गिक है, वास्तविक है, बस, केवल उसे ही देखना है।

कल हमने धर्म के आठ अंगों में से छह अंगों की चर्चा की थी। शील की चर्चा हुई, जिसमें शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से बचने की बात थी। समाधि की चर्चा हुई, जिसमें मन को वश में करने की बात आई। पर हमेशा मन के साथ जोर-जबरदस्ती करके, उसे दमन करते हुए कोई व्यक्ति दुखों से छुटकारा नहीं पा सकता। हर दमन हमारे मन में एक नई गांठ, एक नया तनाव पैदा करता है। दमन द्वारा एक बार वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से तो बच जाते हैं क्योंकि मन अपने वश में आ गया, पर यह सही समाधान नहीं है। प्रारंभ तो अवश्य उससे होता है, पर जरा-सा ही। हमें आगे बढ़ना है और उसी को 'प्रज्ञा' कहते हैं। प्रज्ञा के क्षेत्र में गहराइयों से गुजर जाएँगे तो मन को दबाने की जरूरत नहीं होगी।

आज प्रज्ञा के क्षेत्र को बौद्धिक स्तर पर समझेंगे। धर्म के शेष दो अंग प्रज्ञा के अंतर्गत आते हैं—'सम्मा संकप्पो' यानी सम्यक् संकल्प और 'सम्मा दिट्ठि', यानी सम्यक् दृष्टि।

संकल्प का अर्थ है चिंतन, मनन। हमारे मन में जो विचार चलते हैं, संकल्प-विकल्प चलते हैं वे सम्यक् होने चाहिए, सही होने चाहिए। जब साधना का अभ्यास प्रारंभ किया तब भी विचार चलते थे और अब भी चलते

हैं। हर साधक ने अनुभव किया होगा कि जब कार्य शुरू किया तब विचार बहुत अधिक राग-रंजित, द्वेष-दूषित और मोह-विमूढ़ित थे। साँस के प्रति साक्षीभाव लाते-लाते, स्मृति का अभ्यास करते-करते, अनुभव हुआ होगा कि दूषित विचारों से थोड़ा-थोड़ा छुटकारा होने लगता है। दूषित विचार कम होने लगे हैं।

प्रज्ञा के क्षेत्र का दूसरा अंग है सम्यक् दृष्टि, सम्यक् दर्शन। दर्शन शब्द आज बड़ा भ्रामक हो गया है। पच्चीस सौ वर्ष पहले भी दर्शन शब्द का दुरुपयोग होने लगा था। ध्यान के क्षेत्र में, अध्यात्म के क्षेत्र में, जिस सही अर्थ का प्रयोग होना चाहिए, वह तो लुप्त हो गया और दर्शन का अर्थ होने लगा अमुक-अमुक मान्यताएँ, परंपराएँ। हर संप्रदाय की अपनी भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएँ होती हैं। हर संप्रदाय अपनी इन दार्शनिक मान्यताओं को महत्त्व देता है और मानता है कि यही सम्यक् दर्शन है। बस, यहीं विवाद खड़े हो गए। दर्शन का सही और वास्तविक अर्थ लुप्त हो गया। दर्शन का सही अर्थ है जो बात, जो वस्तु जैसी है, उसे वैसे ही उसके गुण-धर्म-स्वभाव में देखें। यही सम्यक् दर्शन है।

प्रज्ञा के तीन सोपान हैं—श्रुतमयी प्रज्ञा, चिंतनमयी प्रज्ञा और भावनामयी प्रज्ञा।

श्रुतमयी प्रज्ञा का अर्थ है वह ज्ञान, जो हमने सुन लिया अथवा शास्त्रों में पढ़ लिया। बड़ा उपयोगी है वह ज्ञान। इसका अपना लाभ है। इससे प्रेरणा मिलती है, मार्ग-दर्शन मिलता है। लेकिन किसी बात को केवल श्रद्धापूर्वक मान लेना मात्र काफी नहीं है। इस ज्ञान से, मार्ग-दर्शन से प्रेरणा लेकर आगे कदम बढ़े, तभी लाभ होता है, अन्यथा केवल सुना या पढ़ा हुआ ज्ञान अंध-श्रद्धा का रूप ले लेता है।

चिंतनमयी प्रज्ञा का अपना महत्त्व है। चिंतन-मनन करना मनुष्य का स्वभाव है, उसका अपना प्राकृतिक धर्म है। वह हर बात अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसकर देखेगा। मनन करेगा तो ही स्वीकार करेगा। यह प्रज्ञा का दूसरा क्षेत्र है। जो कुछ सुना है, पढ़ा है, उस पर चिंतन-मनन करके यह निश्चय करना कि कौन-सी बात युक्ति-संगत है, न्याय-संगत है, तर्क-संगत है, धर्म-संगत है? तब ही उसे स्वीकार करना। लेकिन इससे भी अगला

कदम है और वह नहीं उठा तो यह स्थिति भी खतरनाक हो जाएगी। सिर पर एक दंभ सवार हो जाएगा कि मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया, सारे शास्त्र पढ़ लिए, उन शास्त्रों को तर्क-वितर्क से समझ लिया। मैं बड़ा प्रज्ञावान हो गया। यह भी बड़ी भ्रांतिमय स्थिति है। जब तक अपनी अनुभूति के स्तर पर अपने ज्ञान की वृद्धि नहीं होगी, सही माने में लाभ नहीं होगा।

अतः श्रुतमयी और चिंतनमयी प्रज्ञा से लाभ लेकर अगला कदम उठाना भावनामयी प्रज्ञा के क्षेत्र में प्रवेश करना है। अपनी अनुभूतियों के बल पर जो प्रज्ञा बढ़ रही है, वह कल्याण कारिणी प्रज्ञा है। उसी से मनोबल सधता है, पुरानी गाँठें खुलती हैं, नई गाँठों नहीं बँधतीं। हम जो साधना कर रहे हैं, उसका यही लक्ष्य है कि प्रत्येक साधक की भावनामयी प्रज्ञा जाग्रत हो।

हर परंपरा के महापुरुषों ने जो बात कही, अपने अनुभवों से कही। पर वह हमारे काम की तभी होगी जबकि वह सारा अनुभव हमारे जीवन में उतरे। जो अनुभूति होती है, उसे शब्दों में पूरी तरह नहीं उतारा जा सकता है। कुछ तो अनुभूतियाँ ऐसी हैं, जो इंद्रियायीत हैं। अंतिम सत्य की अनुभूति हैं, परम सत्य की अनुभूति हैं। इन अनुभूतियों को शब्दों में उतारना नितांत असंभव है, क्योंकि शब्दों की अपनी सीमा होती है, भाषा की अपनी सीमा होती है। इसलिए सत्य की खोज में निकले साधक के लिए यह आवश्यक है कि सत्य को अपनी अनुभूति के स्तर पर जाने। यह भावनामयी प्रज्ञा है। इस प्रकार सत्य की खोज आरंभ करते हैं तो अंतर्मुखी होकर जिस सच्चाई का पहले दर्शन करते हैं, वह हमेशा स्थूल, ठोस ही होती है। स्थूल सत्य का दर्शन होता है, घनीभूत सत्य का दर्शन होता है। घनीभूत सत्य को देखते-देखते उसके टुकड़े होने लगते हैं तो फिर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम सत्य के दर्शन होने लगते हैं और अंततः अंतिम सत्य, परम सत्य, तक जाते हैं। अपनी अनुभूति में जो उतर रहा है, वही अपनी प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा कैसे बढ़े, कैसे प्रभावित हो, कैसे इसका बहुलीकरण हो? जो सच्चाई जैसे प्रकट हुई, उसे वैसे ही देखेंगे, वैसे ही स्वीकारेंगे। इस पर किसी मान्यता का, दर्शन का, अथवा राग का, द्वेष का, भ्रांति का रंग-रोगन नहीं चढ़ाएँगे।

सबसे पहली स्थूल सच्चाई इस शरीर की है। इससे काम शुरू करते हैं

और इसकी सूक्ष्मताओं में उतरते हैं। धीरे-धीरे चित्त की सूक्ष्मताओं में उतरते हैं। उसके गुण, धर्म, स्वभाव को देखते हैं। इसके बाद जो इंद्रियातीत धर्म है, सच्चाई है, लोकातीत धर्म है, सच्चाई है, उसका साक्षात्कार अपने आप हो जाता है।

शरीर की और संसार की अनित्यता और क्षण-भंगुरता के बारे में खूब सुना और पढ़ा, लेकिन अनुभूतियों के स्तर पर यह बात नहीं जानी। इसलिए बडी भ्रांति होती है। उस व्यक्ति ने, जिसे सम्यक् संबोधि प्राप्त हुई, बाहर की दुनिया को खूब देखा। बाहर की सच्चाइयों को बहुत देखा। फिर अंतर्मुखी होकर अंतर की सच्चाई को देखने लगा। इस शरीर के बारे में क्या सच्चाई है? हड्डी है, मांस है, लहू है, त्वचा है, इत्यादि-इत्यादि। फिर इन्हें टुकड़े करके देखा तो पाया कि ये सब-के-सब नन्हे-नन्हे परमाणु-कणों से बने हैं और ये परमाणु-कण भी उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं। अनुभूति से मालूम हुआ कि उत्पन्न-नष्ट होनेवाले ये कण 'परमाणु' से भी छोटे हैं। उस समय की समृद्ध भाषा में भी ऐसे छोटे कण को व्यक्त करने के लिए कोई शब्द नहीं था। तो एक नया शब्द गढ़ लिया 'अष्टकलाप'। अष्टकलाप उस इकाई को कहा, जहाँ आठ चीजें जुड़ गईं। उनके और टुकड़े नहीं हो सकते। यह है भौतिक जगत की नन्हीं-से-नन्हीं इकाई।

क्या आठ बातें जुड़ गईं? चार भौतिक तत्त्व और उनके अपने-अपने गुण, धर्म, स्वभाव। पृथ्वी तत्व, जल तत्त्व, अग्नि तत्त्व, वायु तत्त्व अपने-अपने गुण-धर्मों के साथ। और फिर देखा कि यह जो इतनी नन्हीं-सी इकाई, यह भी ठोस नहीं है। तरंग-ही-तरंग है। नश्वर है। भंगुर है, उदय-व्यय ही उदय-व्यय है । और देखा कि इतनी तीव्र गति से इन तरंगों का उदय-व्यय हो रहा है कि पलक झपकने भर में ये अष्टकलाप अनेक शत सहस्र कोटि बार उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जाते हैं।

अनुभूतियों के स्तर पर जब यह बात स्पष्ट होती है कि यह शरीर कितना अनित्य है, कितना भंगुर है, प्रतिक्षण उदय होता है, व्यय होता है तो आसक्तियाँ अपने-आप टूटने लगती हैं। जितनी-जितनी अनुभूतिवाली यह प्रज्ञा पुष्ट होती है, सम्यक् होती है, उतनी-उतनी आसशक्ति टूटती ही है। प्रज्ञा का यह पहला स्वरूप, अनित्यबोध का स्वरूप, जब जागने लगता है, प्रमुख होने

लगता है तो राग दूर होते हैं, द्वेष दूर होते हैं, मोह दूर होते हैं, व्याकुलता दूर होती है, कठिनाइयाँ दूर होती हैं, तनाव दूर होते हैं।

ज्यों-ज्यों अनित्य-बोध पुष्ट होने लगता है त्यों-त्यों प्रज्ञा का दूसरा अंग—अनात्म-बोध—स्पष्ट होने लगता है। यह अनात्म-बोध क्या है ? इसे भी ठीक से समझें।

दार्शनिकों के अनात्मवाद और आत्मवाद के विवाद में हमें नहीं पड़ना है। अनात्मभाव अर्थात् अहम्भाव और ममभाव का अभाव। 'मैं' नहीं है, 'मेरा' नहीं है। इस 'मैं-मैं' ने 'मेरा-मेरा' ने कितनी आसक्ति पैदा कर दी है, यह खूब समझ में आने लगेगा। व्यवहार-जगत में 'मैं-मेरा', 'तू-तेरा' कहना पड़ता हैं, लेकिन वास्तविक कठिनाई आसक्ति की है, जिसके कारण दुख होता है। वस्तुतः इस शरीर-स्कंध के प्रति गहरा चिपकाव हो गया है, गहरी आसक्ति हो गई है। ऐसे ही चित्त- स्कंध के प्रति गहरा चिपकाव, गहरी आसक्ति हो गई है। अनुभूति के स्तर पर देखने लगेंगे तो पता चलेगा कि जिनके प्रति आसक्ति पैदा कर रहे हैं, ये तो तंरगें-ही-तरंगें हैं।

''सबजो पज्जलितो लोको, सब्बो लोको प्रकंपितो।''

सारे लोक प्रज्वलित-ही-प्रज्वलित हैं, सारे लोक प्रकंपित-ही-प्रकंपित हैं। यह तो उदय-व्यय का प्रकंपन है, इसमें 'मैं' और 'मेरा' जैसा कुछ है ही नहीं। जब यह शरीर ही मेरा नहीं है तो उससे एक कदम भी आगे, एक इंच भी आगे जो वस्तु है, व्यक्ति है, स्थिति है, वह 'मेरी' कैसे होगी ? अनात्म का अर्थ है, जहाँ अहम् समाप्त हो जाए, मम समाप्त हो जाए। तभी राग मिटता है, द्वेष मिटता है।

अनित्य और अनात्मबोध के साथ-साथ प्रज्ञा के तीसरे अंग 'दुख' का वास्तविक बोध होने लगता है। सही माने में दुख क्या है ? यह बात समझ में आने लगती है। जो अनित्य है, प्रतिक्षण बदलता है, प्रतिक्षण भंग होता है, जिस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, जो 'मैं' नहीं, 'मेरा' नहीं, उसके प्रति जितनी-जितनी आसक्ति है, उतना-उतना दुख ही है। यह बात अनुभूतियों से समझ में आएगी, प्रवचनों से नहीं। सही माने में दुख के दर्शन होने लगेंगे। स्थूल-स्थूल के दर्शन तो होंगे ही, आगे चलकर सूक्ष्म दुख के भी दर्शन होने लगेंगे, जिसे दुनियादारी की भाषा में 'सुख' कहते हैं। अभी तो शरीर पर

होनेवाली स्थूल-स्थूल पीड़ाओं का जितना दुख है, उसे साक्षी भाव से देखना सीखेंगे। जिसे सुखद संवेदना कहते हैं, अनित्य स्वभाववाली होने के कारण या उससे नष्ट होने पर जो दुख होता है, उसे भी जानेंगे और साक्षीभाव से देखना सीखेंगे।

अनित्य, अनात्म और दुख की ये तीनों प्रज्ञाएँ भीतर से अपने-आप जागने लगेंगे तो बाह्य जगत में भी प्रज्ञा का शासन चलेगा। जो बात अशुभ है, अशुभ ही लगेगी। जो असुंदर है, असुंदर ही लगेगी।

जैसे-जैसे अंतर्मुखी होकर गहराइयों में प्रवेश करेंगे तो मालूम होगा कि संगठन की, संश्लेषण के घनीभूत हो जाने की अपनी माया है। बड़ा भ्रम पैदा करती है यह माया। ज्यों-ज्यों प्रज्ञा पुष्ट होने लगेगी, सारी बात जैसी है, वैसी ही दिखने लगेगी। जैसा बाहर, वैसा भीतर। इस प्रकार के ज्ञान से कभी घृणा नहीं जागेगी। धर्म कभी किसी से घृणा करना नहीं सिखाता । मैत्री जागेगी, करुणा जागेगी, जीवन में समता आएगी।

इस भावनामयी प्रज्ञा को जगाने के लिए कल काम शुरू करेंगे। इन तीन दिनों तक शील पालन करते हुए समाधि के क्षेत्र में जो पुरुषार्थ किया है, उसका लाभ कल मिलेगा। कितनी गहराइयों में जा सकेंगे, यह बात हर व्यक्ति की अपनी मेहनत पर, अपने काम पर, अपनी तपस्या पर निर्भर करती है। निरंतर अभ्यास में लगे रहें। सफलता मिलने हीवाली है।

कायिक करम सुधार ले, वाचिक करम सुधार।
मनसा करम सुधार ले, यही धरम का सार।।

जो चाहे बंधन खुलें, मुक्ति दुखों से होय।
वश में कर ले चित्त को, चित्त के वश मत होय।।

चित्त से चित्त का दमन कर, चित्त से चित्त सुधार।
चित्त स्वच्छ कर चित्त से, खोल मुक्ति के द्वार।।
पर-सेवा ही पुण्य है, पर-पीड़न ही पाप।
पुण्य किये सुख ही मिले, पाप किये दुख-ताप।।

कुशल करम करते रहें, करें न पाप लवलेश।
मन निरमल करते रहें, शुद्ध धरम उपदेश।।

कुदरत का कानून है, सब पर लागू होय।
मैले मन दुखिया रहे, निरमल सुखिया होय।।

चौथा दिन

साधना का चौथा दिन पूरा हुआ। चौथा दिन बड़े महत्त्व का दिन है। तीन दिन से इसी के लिए परिश्रम कर रहे थे। अनेक साधकों ने आज पहली बार अपने भीतर सत्य की धर्म-गंगा में डुबकी लगाई।

जब से जन्म लिया, आँखें खोलीं, बाहर-बाहर ही देखा। बहिर्मुखी, बहिर्मुखी, सारे जीवन बहिर्मुखी ही रहा। कहीं धर्म के नाम पर कोई काम किया भी तो बाहर-बाहर का ही—बाहरी वेश-भूषा, बाहरी बनाव-शृंगार, बाहरी दिखावा, बाहरी आडंबर। थोड़ा और आगे बढ़ा तो बाहरी-बाहरी कर्मकांड। इन्हीं में सारा जीवन बिता दिया। यदि कोई कुछ और आगे बढ़ा तो अध्यात्म के नाम पर बुद्धि-विलास करने लगा। केवल दार्शनिक ऊहापोह, दार्शनिक वाद-विवाद। अध्यात्म का अर्थ ही नहीं समझा, धर्म का अर्थ ही नहीं समझा। अध्यात्म कहते हैं अपने भीतर की सच्चाइयों को स्वानुभूति द्वारा जानने को। धर्म कहते हैं धारण करने को। पर न कभी भीतर देखकर सच्चाई का अनुभव किया, न उसे धारण किया। सत्य के अनुसंधान का कार्य ही नहीं किया, खोज का कार्य ही नहीं किया। भीतर जो अमृत भरा है, उस तक पहुँचा ही नहीं, उसे चखा ही नहीं।

आज जो कदम उठाया है, वह नन्हा-सा कदम है इस लंबी यात्रा का, जिस पर हम चलना चाहते हैं। अंतर्मुखी होने का पहला कदम है; इसलिए बड़े महत्त्व का है। अंतर्मुखी दो प्रकार से हो सकते हैं—एक तो आँखें बंद करके बैठ गए और लगे किसी कल्पना का ध्यान करने-कल्पना-ही-कल्पना। कल्पना बड़ी प्रिय लगती है, बड़ी सुखद,पर सच्चाई से कोसों दूर। दूसरे अंतर्मुखी होते हैं कल्पना से मुक्त, सत्य-दर्शन के लिए। हमें यही करना है।

भारतवर्ष बड़ा पुराना देश है। इस देश में साधना की अनेक विधियाँ उत्पन्न हुईं, पनपीं, बिगड़ीं, नष्ट हुईं, लुप्त हुईं। यह एक अलग विधि है—भारत की लुप्त हुई पुरातन साधना-विधि। इसे समझें। किसी पूर्वाग्रह से, पूर्व-बुद्धि लेप से शंका में न उलझें।

आज हम समझेंगे कि इस साधना का यह पहला कदम क्या है? कैसा है? नए-नए साधकों के समक्ष कई प्रश्न आते हैं। कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो

समान रूप से सभी नए साधकों के समक्ष आते हैं। पहले उनका समाधान कर लें।

एक प्रश्न यह उठता है कि सिर से पाँव तक यह यात्रा किसी एक क्रम से ही क्यों करें? आवश्यक नहीं कि जो क्रम हमने बतलाया है उसी क्रम से करें। किसी क्रम से करें, लेकिन क्रम से अवश्य करें, ताकि शरीर का कोई अंग छूट न जाए। इस शरीर-स्कंध के बारे में हम सत्य की खोज कर रहे हैं। इस खोज में किसी अंग को अछूता नहीं रखना है। किसी अंग को मूर्च्छित नहीं छोड़ना है।

एक प्रश्न यह उठता है कि जो सिर से पाँव तक की यात्रा है, यह ऊपरी स्तर पर ही करें या भीतर भी? आगे जाकर तो यह यात्रा भीतर तक करनी ही है। फिलहाल ऊपरी-ऊपरी स्तर पर संवेदना को देखें। जब सारे शरीर में संवेदना महसूस होने लगे तो भीतर तक देखना आसान हो जाएगा। यदि किसी को अभी भीतर तक महसूस होने लगा तो बहुत ठीक, अन्यथा इसके लिए आतुर न हो।

एक प्रश्न यह उठता है कि यह जो सिर से पाँव तक चक्कर लगाते हैं, उसमें कितना समय लगना चाहिए? उसके लिए कोई समय निर्धारित नहीं है। निर्भर करता है साधक की मनःस्थिति पर। कभी-कभी मन दुर्बल होता है, चंचल होता है तो बड़ा स्थूल होता है। जहाँ पहुँचे वहाँ कुछ महसूस नहीं हुआ तो एक-दो मिनट रुककर आगे चलता है। इस तरह रुकते-रुकते यात्रा में आधा घंटा भी लग जाए, एक घंटा भी लग जाए। हमें अपना काम करना है। जो समय लगता है, लगे। जब मन सजग है, स्थिर है तो जहाँ पहुँचा वहीं कुछ महसूस हुआ और तुरंत आगे बढ़ा तो समय कम लगेगा। लेकिन अब जबकि काम शुरू ही किया है तो एक पूरी यात्रा में कम-से-कम दस मिनट तो लगने ही चाहिए, ताकि कोई अंग छूटने न पाए। जहाँ कहीं कुछ महसूस न हो और उस स्थान पर एक-दो मिनट के लिए रुकें तो बड़े धीरज के साथ निरीक्षण करें। यदि संवेदना नहीं मालूम हो तो व्याकुल न हों। संवेदना उत्पन्न करने का व्यर्थ प्रयत्न नहीं करना है। कोई कृत्रिम संवेदना नहीं लानी है। जैसी स्थिति है उसे साक्षीभाव से देखना है। हमारे शरीर के प्रत्येक अंग में कुछ-न-कुछ हो ही रहा है। शांत

चित्त से उसे देखना है। धीरे-धीरे स्थूल मन सूक्ष्म होने लगेगा और सूक्ष्म मन संवेदनशील होने लगेगा।

हमें अपने शरीर के अंग-प्रत्यंग में जो कुछ स्वभाव से हो रहा है, उसे देखना है। यदि मौसम के कारण शरीर पर प्रभाव पड़ रहा है तो उसे देखेंगे। शरीर पर गर्मी है तो गर्मी को देखेंगे, पसीना है तो पसीने को, भारीपन है तो भारीपन को। कहीं कोई रोग या बीमारी के कारण दर्द है, तो दर्द को देखेंगे। अब तक भोक्ता होकर भोगते आए हैं। अब उसे साक्षीभाव से, तटस्थभाव से, देखेंगे। न अच्छा मानेंगे, न बुरा मानेंगे। जिस स्थान पर जैसी संवेदना हो रही है, उसे जानना है। बस, केवल जानना है। प्रतिक्रिया नहीं करनी है। कदम-कदम सच्चाई के सहारे, तथ्य के सहारे चलेंगे। प्रारंभ में बड़े स्थूल तथ्य ही सामने आते हैं—ये प्रकट सत्य हैं, भासमान सत्य हैं। किसी अंग में बड़े जोर की पीड़ा महसूस हो रही है। यह घनीभूत पीड़ा इस क्षण की सच्चाई है। शरीर का अमुक भाग ठोस है, यह इस क्षण का प्रकट सत्य है, भासमान सत्य है। उसे साक्षीभाव से देखेंगे। उसके टुकड़े होने लगेंगे, विघटन-विश्लेषण होने लगेगा। सघनता टूटेगी। अंततः यह प्रतीत होगा कि यह पीड़ा, यह सघनता केवल तरंगें-ही-तरंगें हैं। इस तरह प्रकट भासमान, सत्य से हम परमार्थ सत्य की ओर बढ़ेंगे। घनीभूत सत्य का बिना विघटन-विश्लेषण किए, टुकड़े-टुकड़े किए, हम परम सत्य तक नहीं पहुँच पाएँगे। यदि हमें सूर्य का दर्शन करना है तो जब तक घने-घने बादल छाए रहेंगे, सूर्य का दर्शन नहीं कर सकेंगे। जैसे ही घने बादल बिखर जाएँगे सूर्य-दर्शन का प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। अपने-आप हो जाएगा। जब तक चित्त पर राग के, द्वेष के, मोह के घने-घने बादल छाए रहेंगे, परम सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकेगा।

इस समय ठोस सत्य हमारे सामने आया है, उसे स्वीकार कर साक्षीभाव से देखना है। कुदरत के कानून को देखना है। कुदरत का कानून, प्रकृति का नियम, सर्वव्यापी है, सब पर लागू होता है। सजीव, निर्जीव, अणु-अणु पर लागू होता है। जिस समय इसका साक्षात्कार हो जाता है, मनुष्य अपने-आप इस कानून के अनुसार ढल जाता है। यह साधना इसीलिए कर रहे हैं कि हम अपनी-अपनी अनुभूतियों के स्तर पर प्रकृति के इस विधान को समझें, परम सत्य को जानें और उसके अनुसार अपने जीवन को ढालें। यही धर्म है।

सारे संसार में प्रतिक्षण कुछ बदल रहा है, कोई घटना घट रही है। कोई बीज धरती में बोया गया तो वह फूट रहा है, अंकुरित हो रहा है। एक नन्हा-सा पेड़ फूट रहा है, उसमें से कोई डाल निकल रही है, शाखा निकल रही है,टहनी निकल रही है, पत्ता निकल रहा है, विकसित हो रहा है, फूल निकल रहा है। यह सच्चाई है कि कुछ-न-कुछ बने ही जा रहा है। पेड़ बढ़ रहा है। इसलिए इस संसार को भव संसार कहा गया—भव, भव, भव। वैसे व्यवहार जगत में कहना पड़ता है कि अमुक प्राणी है, जीव है,भूत है, लेकिन वास्तव में ऐसा कुछ है ही नहीं। केवल भव है, भव है। ऐसा कुछ भी नहीं है, जो बन-बनाके तैयार हो गया हो और उसमें अब कोई परिर्वतन नहीं होगा। सब कुछ बदल ही रहा है। यह सच्चाई जब अनुभूति के स्तर पर जानेंगे, तब वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण सत्य का दर्शन होगा।

साधना के अभ्यास में एक और सच्चाई सामने आती है कि जो बदल रहा है, वह अकस्मात्, अकारण, नहीं बदल रहा। उसके पीछे एक या अनेक कारण हैं। बिना कारण के कुछ होता ही नहीं। किसी कारण से ही कोई कार्य संपन्न होता है, जो अगले कार्य का कारण बन जाता है। यह कार्य-कारण, कारण-कार्य की शृंखला अनवरत गति से चलती रहती है।ज्यों-ज्यों गहराइयों में उतरते जाएँगे एक और सच्चाई स्पष्ट होने लगेगी। जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य संपन्न होता है। प्रकृति का नियम है जैसा बीज, वैसा फल। यदि कड़वा नीम बोएँगे तो कड़वा फल ही आएगा। मीठा आम बोएँगे तो मीठा फल ही आएगा। यह प्रकृति का अटूट नियम है। इसके विपरीत हो ही नहीं सकता।

जैसा बीज वैसा ही फल आनेवाला है तो अपने कर्म-बीजों के प्रति सजग रहना होगा। समझें कि कर्म क्या हैं? किसे कर्म-बीज कहें? कर्म तो शरीर, वाणी और मन से भी होता है। कौन-से कर्म को महत्त्व दें? सामान्यतया लोग शरीर के कर्म को ही प्रमुख मानते हैं, वाणी के कर्म को उससे हल्का और मन के कर्म को कोई महत्त्व ही नहीं देते, लेकिन जिस व्यक्ति को सम्यक् संबोधि प्राप्त होती है, जिसने अनुभूतियों के स्तर पर कुदरत के कानून को समझा, वह जान लेता है कि न शरीर का कर्म फल देता है, न वाणी का कर्म। मन का कर्म ही फल देता है। शरीर और वाणी के कर्म

तो मन के कर्म के ही बाह्य प्रक्षेपण हैं, बाह्य प्रकटीकरण हैं। हर कर्म पहले मन में शुरू होता है। फिर बढ़ते-बढ़ते तीव्र होगा तो वाणी पर उतर आएगा। और अधिक तीव्र होगा तो शरीर पर उतर आएगा। जो शरीर या वाणी का दुष्कर्म है, वह मन के दुष्कर्म की ही संतान है। इसी प्रकार जो शरीर या वाणी का सत्कर्म है वह भी मन के सत्कर्म की ही संतान है। यह कुदरत का कानून किसी के उपदेश से नहीं मान लेना है। किसी पुस्तक में लिखा है, इसलिए नहीं मान लेना है। अनुभूतियों से जानकर मानना है कि जैसी चित्त की चेतना होती है, वैसा ही फल आता है।

ये सारी बातें अनुभूतियों में उतरेंगी तो कुदरत के कानून को ठीक से समझेंगे और तब अपने चित्त पर पहरा लगाएँगे। जो व्यक्ति अपने चित्त की चेतना पर पहरा लगाने लगा, उसको अपनी वाणी पर, शरीर पर पहरा लगाने की आवश्यकता नहीं। यदि चित्त की चेतना सुधरी हुई है तो वाणी से, शरीर से जो कर्म होंगे, कल्याणकारी ही होंगे।

साधना आरंभ करते-करते हमने अपने शरीर और चित्त-स्कंध के बारे में कुछ-कुछ सच्चाइयों को अनुभूति के सहारे देखा था। साँस को देखते-देखते भी चित्त की बात थोड़ी समझ में आने लगी थी। अब काया को देखते-देखते, काया की संवेदना को देखते-देखते, चित्त और चित्त-वृत्तियों की बात और अधिक समझ में आने लगेगी। यह समझने लगेंगे कि यह मन या चित्त क्या है? इसकी चेतना क्या है? कैसे काम करती है?

चित्त की चेतना के चार मोटे-मोटे स्तंभ, चार मोटे-मोटे हिस्से हैं। उन दिनों की भाषा में चित्त के पहले खंड को विज्ञान, दूसरे को संज्ञा, तीसरे को वेदना और चौथे खंड को संस्कार कहा गया।

उन दिनों विज्ञान का अर्थ था केवल जानना। अंग्रेजी में अनुवाद करें तो इसे 'कॉन्शसनेस' कह सकते हैं। ये जो आँखें हैं, नाक है, जीभ है, कान हैं, त्वचा है, ये इंद्रियाँ अपने-आप में बिल्कुल निर्जीव हैं। जब तक चेतना का यह विज्ञान-खंड इनके साथ नहीं लगता, तब तक ये काम नहीं कर सकतीं। इसके साथ विज्ञान-खंड के जुड़ते ही जानकारी होती है किसी वस्तु की, पदार्थ की, गंध की, रस की, शब्द आदि की। बस, केवल जानकारी होती है। जैसे ही जानकारी हुई, चेतना का दूसरा खंड संज्ञा उत्पन्न होता है, जिसका

काम पहचानने का है। यह पहचान अब तक के अनुभवों के आधार पर, याददाश्त के आधार पर होती है। पहचान होती है तो मूल्यांकन होता है । शब्द आए तो पहचाना—ये प्रशंसा के हैं, ये गाली के हैं। जैसे ही पहचाना और मूल्यांकन कर लिया, चेतना का तीसरा खंड उत्पन्न होता है, जिसे वेदना कहा गया। वेदना अर्थात संवेदना सुखद भी होती है दुखद भी। जैसे ही दुखद या सुखद संवेदना होती है तुरंत उसके प्रति प्रतिक्रिया होती है, जिसे संस्कार कहा गया। यह चेतना का चौथा खंड है।

सुखद संवेदना हुई। प्रिय लगी। उसके प्रति राग जागा। दुखद संवेदना हुई। अप्रिय लगी। उसके प्रति द्वेष जागा। आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा और मन, ये जो हमारी छह इंद्रियां हैं, इन पर ज्यों ही संबंधित विषय टकराते हैं, त्यों ही त्वरित गति से जानने, पहचानने, मूल्यांकन करने, संवेदनशील होने और संस्कार बनाने का कार्य होता है। सदैव यही करते रहते हैं—राग के संस्कार बनाते हैं, द्वेष के संस्कार बनाते हैं। इसी आदत के बाहर निकलना है।

ठीक तरह से समझ लेना चाहिए कि कर्म-संस्कार के बीज कहाँ बनते हैं, कैसे बनते हैं? चित्त का पहला हिस्सा 'विज्ञान', जो जानने का काम करता है, वह कर्म का बीज नहीं बनता। इसी प्रकार चित्त का दूसरा हिस्सा 'संज्ञा', जो पहचानने का काम करता है, वह भी बीज नहीं बनता। चित्त का तीसरा हिस्सा 'वेदना' भी बीज नहीं बनता। चित्त का चौथा हिस्सा 'संस्कार', जो प्रतिक्रिया करता है, वही बीज बनता है। कोई भी संपर्क चाहे आँख से हो, नाक से हो, कान से हो, जीभ से हो, त्वचा से हो अथवा मन से हो, उसका प्रभाव शरीर पर होगा ही, और तब प्रतिक्रिया होगी, संस्कार बनेगा। यह संस्कार शरीर की संवेदना के आधार पर ही बनेगा।

जब संवेदना को देखना आ जाएगा तो उसके प्रति न राग पैदा करेंगे, न द्वेष पैदा करेंगे, न मोह पैदा करेंगे। केवल द्रष्टाभाव से उसे देखेंगे। संवेदना सुखद हो या दुखद, वह नश्वर है, भंगुर है। उसे द्रष्टाभाव से देखना है। घंटे भर की साधना में एक क्षण भी ऐसा आया तो अभ्यास क़रते-करते वही एक क्षण अनेक क्षण बन जाएँगे। अनेक सेकेंड बन जाएँगे, अनेक मिनट बन जाएँगे। ऐसी स्थिति भी आएगी ही, जबकि जो कुछ हो रहा है उसको जानेंगे

और जानकर प्रतिक्रिया नहीं करेंगे। राग नहीं पैदा करेंगे, द्वेष नहीं पैदा करेंगे। यों पलट जाएगा स्वभाव राग और द्वेष के कर्म बाँधने का।

सिर से पांव तक सारे शरीर में चक्कर लगाते रहना और जहाँ-जहाँ सुखद या दुखद, जो भी संवेदना हो रही है, उसे जानकर निर्लिप्त, तटस्थ रह जाना है। जो कुछ हो रहा है उसे भोगें नहीं, मात्र देखें। जितना-जितना द्रष्टाभाव पुष्ट होता चला जाएगा, उतना-उतना पुराना भोक्ताभाव का स्वभाव, राग-रंजित, द्वेष-दूषित और मोह-विमूढ़ित रहने का स्वभाव टूटता चला जाएगा और वीत-रागता, वीत-द्वेषता और वीत-मोहता दृढ़ होती चली जाएगी। प्रज्ञा पुष्ट होगी। जहाँ प्रज्ञा पुष्ट होगी यानी प्रज्ञा में स्थित होंगे, वहाँ अनासक्त होंगे ही। जीवन-मुक्त होंगे ही।

वाणी तो वश में भली, वश में भला शरीर।
पर जो मन वश में करे, वही शूर वह वीर।।

शील समाधि ज्ञान ही, मंगल का भंडार।
सब सुख साधनहार है, सब दुख मेटनहार।।

शील धरम पालन भला, निरमल भली समाधि।
प्रज्ञा तो जाग्रत भली, दूर करे भव व्याधि।।

शीलवान के ध्यान से, प्रज्ञा जाग्रत होय।
अंतर की गाँठें खुलें, मानस निरमल होय।।

शील समाधि ज्ञान की, बहे त्रिवेणी धार।
डुबकी मारे सो तिरे, हो भव सागर पार।।

गंगा जमुना सरस्वती, शील समाधि ज्ञान।
तीनों का संगम हुआ, प्रगटे पद निर्वाण।।

पाँचवाँ दिन

आज साधना के पाँच दिन पूरे हुए। हम अंतर्मुखी होकर अपने ही शरीर-स्कंध को देख रहे हैं, चित्त-स्कंध को देख रहे हैं। यह जो सिर से पाँव तक चक्कर लगा रहे हैं, कोई रूढ़ि नहीं पूरी कर रहे हैं। अपने-आपको देखने का अभ्यास कर रहे हैं। अपने मन और शरीर के स्वभाव को देख रहे हैं। देख रहे हैं कि मन कितना राग-रंजित है, कितना द्वेष-दूषित है और शरीर पर इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है?

यह जो मनुष्य-जीवन को दुखी बनानेवाला रोग है, उसे समझें, उसके कारण को समझें। जीवन में दुख तो है ही। किसी को इस बात का दुख है तो किसी को उस बात का । जीवन-जगत की यह पहली सच्चाई है। बिना कारण के कुछ होता नहीं। दुख के पीछे कोई कारण है, यह दूसरी सच्चाई है। यदि कारण दूर कर लिया तो दुख दूर हो ही गया। यों दुख दूर करने का एक तरीका है। यह तीसरी और चौथी सच्चाइयाँ हैं। जीवन-जगत की ये चार सच्चाइयाँ हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण सच्चाइयाँ हैं।

चित्त की चेतना के बारे में हमने चर्चा की कि चेतना का एक खंड, विज्ञान, जानने का काम करता है। दूसरा खंड, संज्ञा, पहचानने का काम करता है । तीसरा खंड, वेदना, संवेदनशील होने का काम करता है और चौथा खंड, संस्कार, प्रतिक्रिया करने का काम करता है। अनुभूतियों के स्तर पर इस सारी प्रक्रिया को समझना है । जब तक जीवित हैं, सारे शरीर-स्कंध पर कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी कारण से कोई-न-कोई संवेदना होती ही रहती है। इंद्रियों के दरवाजों पर बाहर की कोई चीज टकराती है तो संवेदना होती है। भीतर मन और शरीर के टकराव से संवेदना होती है। अंतर्मन की गहराइयों में इन संवेदनाओं की वजह से जो राग-द्वेष की प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं, यदि हमने उसे जाना ही नहीं, यदि उसका दर्शन ही नहीं किया तो उसे दूर कैसे कर सकेंगे?

जीवन-जगत में दुख है, यह स्पष्ट है। इस सच्चाई को स्वीकार करना है। लेकिन मात्र स्वीकार करना काफी नहीं है। इस सच्चाई का दर्शन करना है। जब हम सच्चाई का दर्शन कर लेते हैं तो यह सच्चाई आर्य सच्चाई बन जाती है। जब तक दुख को भोगते हैं, दुख का संवर्धन ही करते हैं, दुख को

बढ़ाते ही हैं जब दुख का दर्शन करने लगते हैं तो दुख दूर होने लगता है। दुख सत्य, आर्य सत्य, बन जाता है। आर्य सत्य इस माने में कि देखनेवाले को आर्य बना देगा, निर्मल बना देगा। संत बना देगा, मुक्त बना देगा, शुद्ध बना देगा, बुद्ध बना देगा।

इस साधना में हमें इस सच्चाई का अनुभव करना है और उसे साक्षीभाव से देखना है। घंटे भर एक ही आसन में बैठे रहने से बड़ा दुख अनुभव होता है, बड़ी पीड़ा होती है। इस पीड़ा को देखना है। साक्षीभाव से देखते-देखते यह पीड़ा कम होती जाएगी और ऐसी स्थिति आएगी कि बिल्कुल समाप्त हो जाएगी । परंतु यदि इस पीड़ा को भोगते रहे, पीड़ा में कराहते रहे, तो पीड़ा न कम होगी, न मिटेगी। उसका संवर्धन ही होगा।

जब से मनुष्य जन्म लेता है, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्याकुल रहता है। आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं है। बीमार होता है तो दुखी होता है। बूढ़ा होता है तो दुखी होता है । मरता है तो दुखी होता है। देखता है कि जीवन दुख-ही-दुख है। सारे जीवन क्या चलता है? जो प्रिय है उसका वियोग हुए जा रहा है; प्रिय व्यक्ति, प्रिय वस्तु, प्रिय स्थिति। जो अप्रिय है उसका संयोग हुए जा रहा है। अनचाही होती रहती है, मनचाही नहीं होती। जो कामना करता है, वह पूरी नहीं होती तो दुखी होता है। यह जीवन-जगत की सच्चाई है। तीव्र इच्छा यानी तृष्णा अपने-आपमें व्याकुलता है। तृष्णा माने जो अपने पास है, उससे तृप्ति नहीं और जो नहीं है, उसे पाने के लिए व्याकुल हैं।

साधना करते-करते स्वयं अनुभव होगा कि तृष्णा कैसे जागती है। शरीर में जो पीड़ा हो रही है, अपने-आप में इतनी दुखदायी नहीं, लेकिन उसे दूर करने की तृष्णा कई गुना दुखदायी होती है। जीवन भर यही करते आए हैं। जो अप्रिय है उसे दूर धकेलना चाहते हैं, जो प्रिय है, उसे अपनी ओर समेटना चाहते हैं। तृष्णा का दुख इस धकेलने-समेटने का ही दुख है। यह सत्य है। लेकिन वह महापुरुष इस सच्चाई पर ही नहीं रुक गया। और गहराइयों में उतरा तो देखता है "सङ्खित्तेन पञ्चुपादान खन्धा दुक्खा।" यह जो पाँचों स्कंधों के प्रति उपादान यानी आसक्ति पैदा कर ली, यह दुख है। ये पाँच स्कंध क्या हैं? एक रूप-स्कंध यानी परमाणुओं का स्कंध, भौतिक कलापों का स्कंध—यह सारा शरीर, जिसे 'मैं' कहता है, 'मेरा' कहता है, उसके प्रति

गहरा चिपकाव है, आसक्ति है। इसी तरह चित्त के चार स्कंध—विज्ञान, संज्ञा, वेदना और संस्कार। इनके प्रति गहरा चिपकाव है। जैसे कलापों का अपना स्वभाव के वैसे ही इन चित्त-स्कंध का अपना स्वभाव है और वे अपने स्वभाव है अनुसार निरंतर काम करते रहते हैं। लेकिन इनके साथ इतना गहरा चिपकाव पैदा कर लिया है कि मैं जान रहा हूँ, मैं पहचान रहा हूँ, मैं संवेदनशील हो रहा हूँ, मैं प्रतिक्रिया कर रहा हूँ। व्यवहार-जगत में तो ऐसा कहना ही पड़े, लेकिन हमें वास्तविकता को समझना है, सत्य को समझना है, देखना है। इसके साथ जितनी आसक्ति पैदा की है, उतना ही दुख है। आसक्ति और दुख दोनों पर्यायवाची हैं। जहाँ आसक्ति वहाँ दुख। जितनी आसक्ति उतना दुख। यह प्रकृति का अटूट नियम है।

हम चार तरह की आसक्तियों को अपने भीतर सँजोए बैठे हैं। इन्हें दिन-रात बढ़ाए जा रहे हैं। एक तृष्णा की आसक्ति है। तृष्णा अपने-आप में व्याकुलता बढ़ाती है, परंतु इसके साथ इतना चिपकाव पैदा कर लिया कि तृष्णा रहनी ही चाहिए। जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति के प्रति तृष्णा जागी, जब तक नहीं प्राप्त होती, बड़ी बेचैनी होती है, व्याकुलता होती है। परंतु प्राप्त होने पर शीघ्र ही फीकी लगने लगती है। अब दूसरी के प्रति तृष्णा जाग उठती है। वह मिली तो तीसरी, चौथी...। अंत ही नहीं है इस तृष्णा का। बिना पेंदी की बाल्टी है, जो कभी भरती ही नहीं। जीवन भर यही चलता है। तृष्णा कायम रहनी चाहिए, क्योंकि उसके साथ आसक्ति है।

एक अन्य आसक्ति है 'मैं' के प्रति, 'मेर' के प्रति। जानते ही नहीं कि 'मैं' क्या है, 'मेरी' क्या है। फिर भी इस 'मैं' के खिलाफ, 'मेरे' के खिलाफ, कोई एक शब्द नहीं कहे। किसी ने कुछ कहा तो बड़ी व्याकुलता होती है, बड़ा दुख होता है। जिसे 'मेरा' कहा, उसका विछोह होते ही दुख होता है। आसक्ति जो है। आसक्ति दुख ही लाती है।

एक अन्य आसक्ति होती है अपने दर्शन के प्रति, अपनी परंपरागत मान्यता, के प्रति। इस आसक्ति को लेकर मनुष्य खूब बहस करता है, विवाद करता है, लड़ता है, झगड़ता है, व्याकुल रहता है।

एक और आसक्ति अपने-अपने कर्म-कांडों के प्रति होती है। यह आसक्ति भी कम व्याकुल नहीं करती।

इन चार आसक्तियों पर ध्यान देंगे तो देखेंगे कि जब-जब दुख होता है, इन चारों में से कोई-न-कोई आसक्ति ही उसका कारण होती है। परंत, वह महापुरुष, जो सम्यक् संबुद्ध बना, उसे तो कारण की जड़ों तक पहुँचना था। अनुसंधान चालू रहा। कार्य-कारण-शृंखला की एक-एक कड़ी का निरीक्षण करते हुए जड़ों तक जा पहुँचा वह श्रेष्ठ।

जीवन में दुख तो है ही। ''जाति पच्चया जरा मरणं सोक परिदेव दुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति।'' जन्म हो गया तो बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु आएगी ही। शोक, बेचैनी, परेशानी आएगी ही। पर जन्म क्यों हुआ? बिना कारण तो इस जगत में कुछ भी नहीं होता। जन्म के लिए माता-पिता का संयोग आवश्यक है, जो प्रकृति का एक नियम है, लेकिन इसके अतिरिक्त यह समझें कि जीवन-धारा किस प्रकार चलती है? 'भव पच्चया जाति।' यह 'भव-भव' कुछ बनता ही जा रहा है । मृत्यु के साथ बात समाप्त नहीं होती। मृत शरीर में भी परिवर्तन होता जा रहा है और यह चेतना की धारा तुरंत किसी दूसरे से जुड़ जाती है। फिर क्षण-क्षण बनती है, बिगड़ती है। इस प्रकार यह क्रम चलता ही रहता है। तो यह भव क्यों होता है? अनुभूतियों से देखने पर एकदम समझ में आ गया—''उपादान पच्चया भवो।'' यह आसक्ति ही भव का कारण है। जितनी गहरी आसक्ति होगी, उतना गहरा भव-कर्म होगा। तो यह उपादान क्यों होता है? उसका क्या कारण है? अनुभूतियों द्वारा तुरंत मालूम हुआ—''तण्हा पच्चया उपादानं।'' तृष्णा यानी यह राग और द्वेष ही उपादान के कारण हैं। तृष्णा क्यों पैदा होती है? स्पष्ट हुआ कि ''वेदना पच्चया तण्हा।'' सारे शरीर-स्कंध पर जहाँ संवेदना होती है, वहाँ तृष्णा जागती है। सुखद संवेदना हो तो राग और दुखद संवेदना हो तो द्वेष। वेदना होने का क्या कारण है? ''फस्स पच्चया वेदना।'' वेदना स्पर्श से होती है। इन छह इंद्रियों के द्वारों पर इनके विषय से स्पर्श होते ही संवेदना होती है। तो यह स्पर्श क्यों होता है? ''सळायतन पच्चया फस्स।'' जो छह इंद्रियों के दरवाजे खुले रहते हैं, इन पर स्पर्श होता है। तो ये छह इंद्रियों कहाँ से आईं? बात स्पष्ट हो गया—''नाम-रूप पच्चया सळयतनं।'' नाम-रूप की वजह से ये छह इंद्रियां आईं। यह नाम-रूप क्या है? नाम यानी मन और रूप यानी शरीर। इन दोनों की मिली-जुली जीवन-धारा जैसे ही शुरू हुई, छह इंद्रियों

को लेकर ही शुरू हुई। तो यह नाम-रूप क्या है? "विञ्ञण पच्चया नाम-रूपं।" विज्ञान से नाम-रूप हुआ। इस विज्ञान यानी चेतना, जो एक जीवन समाप्त होते ही उसके साथ समाप्त हो जाती है, पर अगले जीवन में फिर किसी अन्य शरीर के साथ नई उत्पन्न हो जाती है। समाप्त होते ही अगले क्षण नया विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। उसका स्वभाव है क्षण-प्रतिक्षण उत्पन्न होकर आगे बढ़ना। यह विज्ञान क्यों होता है? "सङ्खार पच्चया विञ्ञाणं।" हर संस्कार नया विज्ञान पैदा करता है। जैसे-जैसे साधना की गहराइयों में जाएँगे, मालूम होगा कि हर संस्कार नया विज्ञान यानी अगले क्षण की नई चेतना पैदा करता है। ये संस्कार कैसे बनते हैं? "अविज्जा पच्चया सङ्खारा।" अविद्या से ही संस्कार बनते हैं। अविद्या का अर्थ है अज्ञान, बेहोशी, विमूढ़ता। इस प्रकार सारा रहस्य खुल गया। जड़ तक बात समझ में आ गई।

"अविज्जा-पच्चया सङ्खार, सङ्खार-पच्चया विञ्ञाणं,
विञ्ञाण-पच्चया नामरूपं, नामरूप-पच्चया सळयतनं,
सळायतन-पच्चया फस्सो, फस्स-पच्चया वेदना,
वेदना-पच्चया तण्हा, तण्हा-पच्चया उपादानं,
उपादान-पच्चया भवो, भव-पच्चया जाति,
जाति-पच्चया जरामरणं-सोक-परिदेव-दुक्ख-दोनस्सुपायासा सम्भवन्ति।
एवमे तस्स केवलस्स, दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति॥"

देख लिया कि किस प्रकार यह दुख का पहाड़ खड़ा होता है। सारा खेल समझ में आ गया। यह अविद्या, यह बेहोशी, ही दुख का मूल कारण है। इस अविद्या को जड़ से काटें :

"अविज्जाय त्वेव असेस विराग-निरोधा, सङ्खार-निरोधो,
सङ्खार-निरोधा, विञ्ञाण-निरोधो,
विञ्ञाण-निरोधा, नाम-रूप-निरोधो,
नामरूप-निरोधा, सळायतन-निरोधो,
सळायतन-निरोधा, फस्स-निरोधो
फस्स-निरोधा, वेदना-निरोधो
वेदना-निरोधा, तण्हा-निरोधो,
तण्हा-निरोधा, उपादान-निरोधो,

उपादान निरोधो, भव-निरोधो
भव-निरोधो, जाति-निरोधो,
जाति-निरोधा, जरामरणं-सोक-परिदेव-दुक्ख दोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति।
एवमेतस्स केवलस्स, दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति ति॥''

कारण का निवारण समझ में आ गया। कितना भी बड़ा दुखों का पहाड़ क्यों न खड़ा कर लिया हो, सारा-का-सारा समाप्त हो जाएगा। अविद्या को जड़ से उखाड़ना सीखें। कैसे उखाड़ें?

दुख को देख लिया। दुख के कारण को देख लिया, अविद्या की शृंखला देख ली। जीवित हैं तो नाम-रूप की धारा चलेगी ही। इंद्रियाँ भी अपना काम करेंगी ही। स्पर्श भी होगा ही। संवेदना भी होगा ही। और जब-जब संवेदना होगी, पुराने स्वभाव के कारण तृष्णा जागेगी। सुखद होगी, तो राग की, दुखद होगी तो द्वेष की। बस, यहीं रोक लगानी होगी। वेदना तो हो, लेकिन ''वेदना पच्चया तण्हा'' के स्थान पर ''वेदना पच्चया पञ्ञा'' हो, प्रज्ञा जागे। हर वेदना के साथ प्रज्ञा जागेगी तो अविद्या के कारण जो दुख-चक्र चल रहा था, वह पलट जाएगा धर्म-चक्र में। क्या है धर्म-चक्र? जब-जब वेदना जागे, हर वेदना प्रज्ञा जगाए—अनित्य है, नश्वर है। देख तो सही इसे। राग मत पैदा कर। द्वेष मत पैदा कर। जितनी देर हर संवेदना के साथ प्रज्ञा जागती है, नए संस्कार नहीं बनते। इतना ही नहीं, पुराने संस्कार भी कटने लगेंगे।

''खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं।'' नया नहीं बनने पाएगा और पुराना क्षीण हो जाएगा। उस महापुरुष ने प्रकृति के इस कानून को, विधान को, देख लिया। नया बनाना बंद किया तो पुराना क्षीण पड़ने लगा। क्षीण होते-होते एक ऐसी अवस्था पर पहुँच गया कि सारे पुराने भव-संस्कार क्षीण हो गए। प्रज्ञा को जगाते-जगाते चित्त नितांत निर्मल हो गया। नितांत विमुक्त हो गया। शुद्ध-बुद्ध हो गया। उस समय जो हर्ष के उद्गार निकले वे बड़े महत्त्व के हैं।

''अनके-जाति-संसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुनं।
गहंकरक दिट्ठोसि, पुन हेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूटं विसङ्खितं।
विसङ्खारगतं चितं, तण्हानं खयमज्झगा॥''

कितनी बार जन्म लिया इस संसार में, गिनती ही नहीं। जन्म लेता गया और बिना रुके (मृत्यु की ओर) दौड़ लगाता गया। इस कायारूपी घर बनानेवाले की खोज करते हुए पुनः-पुनः दुखमय जीवन में पड़ता रहा। अब घर बनानेवाले को देख लिया। अब नया घर नहीं बना सकेगा। सारी कड़ियाँ भग्न हो गईं। घर का शिखर टूट गया। घर बनाने की सारी सामग्री तोड़-फोड़कर फेंक दी गई। चित्त पूर्व संस्कारों से विहीन हो गया। भविष्य के लिए कोई तृष्णा नहीं रह गई। तृष्णा का समूल नाश हो गया। विमुक्त हो गया।

हर व्यक्ति ऐसा कर सकता है। हर व्यक्ति इस अवस्था तक पहुँच सकता है। पर काम करना होगा। काम स्वयं की करना होगा।

आठ अंग का आर्य पथ, शुद्ध धरम का पंथ।
कदम-कदम चलते हुए, दुर्जन होवे संत॥

पंचशील पालन भला, निरमल भली समाधि।
प्रज्ञा तो जागी भली, दूर करे भव व्याधि॥

मन के करम सुधार ले, मन ही प्रमुख प्रधान।
कायिक वाचिक करम तो, मन ही के संतान॥

मन ही दुर्जन मन सुजन, मन बैरी मन मीत।
जीवन में मंगल जगे, जब मन होय पुनीत॥

जैसी चित की चेतना, फल वैसा ही होय।
दुर्मन का फल दुखद ही, सुखद सुमन का होय॥

जब तक मन में रोग है, जब तक मन में द्वेष।
तब तक दुख ही दुःख है, मिटे न मन के क्लेश॥

छठा दिन

साधना के छह दिन पूरे हुए। हमारी सफलता इस बात पर निर्भर है कि विधि को ठीक-ठीक समझते हुए आगे बढ़ें। आओ, आज फिर समझें यह विधि कैसी है? इसका क्या अनूठापन है? क्या अनोखापन है?

इस विधि के दो पक्ष हैं, दो पहलू हैं। दोनों अत्यंत आवश्यक हैं। अत्यंत महत्त्व के हैं। ये पक्ष हैं समथ और विपश्यना। पहले का अर्थ है चित्त की ओर एकाग्रता, सूक्ष्मता, तीक्ष्णता कि वह गहराइयों तक सच्चाई को जान ले। दूसरे का अर्थ है तटस्थता यानी इसे जानकर जरा भी विचलित न हो। न खुशियों में नाचने लगे, न दुख में रोने लगे। संतुलन रखे। जाने भी और समता में भी रहे। जिस अवस्था को नहीं जान रहे हैं, उसे पहले जानें और फिर समता में स्थापित हों।

यानी तटस्थ रहकर जानें। तटस्थ किसे कहते हैं? नदी के तट पर बैठे हैं और नदी के प्रवाह को देख रहे हैं। जो प्रवाह अपने स्वभाव से गतिमान है, उसे देख रहे हैं। ठीक इसी तरह सिर से पाँव तक हमारे में जो कुछ स्वभाव से हो रहा है, उसे जानना है। जैसे नदी के प्रवाह में कई तरह के पदार्थ और तरंगें आती हैं वैसे ही हमारे शरीर में भी संवेदनाएँ आती हैं। ये संवेदनाएँ आती हैं जाने के लिए ही आती हैं, और चली जाती हैं। जिस तरह तटस्थ होकर नदी के प्रवाह को देखते हैं, उसी तरह साक्षीभाव से शरीर का देखना है।

आत्म-दर्शन संबंधी किसी बात को केवल इसलिए नहीं मान लेना है कि इसे किसी महापुरुष ने कहा है। अनुभूति पर उतरे तभी मानना है। जानो तब मानो। जानकर मानना अपने-आपको सुधारना है। बिना जाने मानना अपने-आपको उलझाना है। अनुभूतियों द्वारा प्रत्यक्ष साक्षात्कार करें। परोक्ष ज्ञान बाँधता है, प्रत्यक्ष ज्ञान खोलता है। उस महापुरुष को सम्यक् संबोधि प्राप्त हुई, जो उसने देखा कि संसार के लोग अपने अज्ञान के कारण बुद्धि-विलास में उलझे हैं, भटके हुए हैं। यदि यह सामान्य-सी कुदरत की बात अनुभूतियों से समझ लेंगे तो बड़ा कल्याण होगा। उलझन क्या है? प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं करें, प्रत्यक्ष दर्शन नहीं करें, लेकिन परोक्ष ज्ञान की इतनी चर्चा करें कि सारा जीवन चर्चा में बिता दें। यह बड़ी उलझन है।

कौतूहल मंगल का एक नशा होता है। कौतूहल पूरा करें और उसी में अपना मंगल मानें। लेकिन कौतहूल कहाँ पूरा होता है? आज एक कौतूहल पूरा हुआ

कि कल दूसरा सिर उठाएगा। दूसरा पूरा हुआ कि तीसरा सिर उठाएगा। जैसे तृष्णा का अंत नहीं होता, वैसे ही कौतूहल का भी अंत नहीं होता। कौतूहल पूरा करने के लिए बुद्धि-विलास ही करते हैं। दर्शन की केवल बात करते हैं, जबकि दर्शन का अर्थ है साक्षात्कार, जो केवल अनुभूति से ही प्राप्त होता है। लेकिन दर्शन की फिलासफी बनाकर कोरे ज्ञान की चर्चा में उलझे रहते हैं। और करने लगते हैं वाद-विवाद, बहस और झगड़े। सारी निकम्मी बातें।

उस महापुरुष ने केवल काम की ही बात की। जब अंतर्मुखी होकर स्वयं को देखा और विभाजन करते-करते उस नन्हें 'कलाप' तक पहुँच गया तो पाया कि इसमें चार महाभूत हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, अपने-अपने गुण, धर्म और स्वभाव के साथ। पृथ्वी धातु से यह न समझ लें कि कोई मिट्टी का कण होगा। जल धातु कहा जाए तो उससे पानी की बूँद न ढूँढ़ने लगें। इसी प्रकार अग्नि धातु कहें तो कोई चिनगारी नहीं ढूँढ़ने लगें। वायु धातु कहने पर कोई हवा का झोंका न खोजने लगें। देखना है इन धातुओं के नैसर्गिक गुणों को, नैसर्गिक धर्म को। पृथ्वी धातु का नैसर्गिक गुण, धर्म, स्वभाव क्या है? पृथ्वी धातु आकाश को घेरती है। फैल करके घेरती है और आकाश से घिर जाती है। उसका किस प्रकार अनुभव किया जाए? भारी है? हल्का है। हल्के-से-हल्के को लेकर भारी-से-भारी तक का वजन का सारा क्षेत्र पृथ्वी धातु को अनुभव करने का क्षेत्र है। अग्नि धातु का क्षेत्र है शीतल-से-शीतल और गर्म-से-गर्म तक की अवस्था। यानी तापमान का पूरा क्षेत्र अग्नि धातु का क्षेत्र है। इसी प्रकार हलन-चलन का सारा क्षेत्र वायु धातु का क्षेत्र है और जल धातु का क्षेत्र है नमी द्वारा बाँधना, संयोजित करना, संश्लिष्ट करना।

विपश्यना का अभ्यास करते हुए हमें शरीर में विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं की अनुभूतियाँ होती हैं। जब कभी पृथ्वी धातु प्रबल होकर आती है तो कहीं भारी लगता है, कहीं हल्का लगता है। जब वायु धातु प्रबल होकर आती है तो किसी प्रकार का हलन-चलन, तरंग या धड़कन का अनुभव होता है। हर एक धातु अपने-अपने स्वभाव को प्रकट करती है। इसी शरीर-स्कंध के परमाणु-समूह में चारों महाभूत समाए हुए हैं। इन चारों महाभूतों में से जब एक प्रबल होकर आएगा तो अपने गुण, धर्म, स्वभाव को प्रकट करेगा और उसे ही हम संवेदनाओं के रूप में अनुभव करेंगे। अन्य सुषुप्त रहेंगे। कभी यह भी होता है

कि दो महाभूत एक साथ प्रकट होकर आते हैं तो दोनों के गुण, धर्म, स्वभाव का अनुभव होता है। लेकिन ऐसा नहीं होता कि चारों एक साथ प्रबल होकर उठें।

बाहर की दुनिया में भी हम यही चाहते हैं। कहीं ठोस बर्फ है कि उसे पृथ्वी धातु कहें। जब बर्फ पिघलकर तरल हो गई, पानी बन गई तो उसे ही जल धातु कहें, भाप बनकर हवा बन गई तो उसे वायु धातु कहें और तीनों ही अवस्था में उसमें तापमान है, सर्द है, गर्म है तो उसे अग्नि धातु कहें।

इसी प्रकार भीतर भी हमें धातुओं की अनुभूति होती है। उसे साक्षीभाव से देखें। यह शरीर का रसायन है। इसमें कभी इस प्रकार के कलाप, कभी उस प्रकार के कलाप अपने -अपने गुण, धर्म, स्वभाव लिये हुए उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं। प्रकट होते हैं जाने के लिए ही। प्रकृति के इस खेल को, इस प्रपंच को समझें। यदि इसे भोगने लगेंगे तो राग और द्वेष के नए संस्कार बनने लगेंगे। अज्ञान है तो ही भोगते हैं। भोगते हैं तो बँधते हैं। ज्ञान जग जाए, बोधि जग जाए, बात समझ में आ जाए, तो यही खुलने का उपाय बन जाए।

हम यह भी समझें कि यह जो भिन्न-भिन्न स्वभाव के परमाणु प्रमुख होकर सामने आते हैं, उनका क्या कारण है? बिना कारण संसार में कुछ नहीं होता। चार मोटे-मोटे कारण हैं इनके। एक मोटा कारण तो यह है कि इन परमाणुओं के पुंज का यानी अपने शरीर को हम भौतिक आहार देते हैं। जैसा भोजन देते हैं, आहार देते हैं, वैसे ही परमाणु बनेंगे। ज्यों-ज्यों संवेदनाओं को देखने में साधक पुष्ट होगा, यह बात अपने अनुभव से ठीक तरह से स्पष्ट होने लगेगी। किसी दिन बहुत मिर्च-मसाले का भोजन कर लिया तो ध्यान के समय सारे शरीर में जलन महसूस होगी। आई अग्नि धातु अपना प्रभाव लेकर। किसी दिन बासी भोजन कर लिया तो तला हुआ गरिष्ठ भोजन कर लिया तो बहुत भारीपन महसूस होगा ध्यान के समय। यह पृथ्वी धातु का प्रकटीकरण है। यदि हम स्वस्थ भोजन करें तो शरीर के सारे परमाणु, शरीर का सारा गठन, सारी रचना भी स्वस्थ होगी। जो आहार दे रहे हैं, वह शरीर में परमाणुओं की उत्पत्ति का एक मोटा कारण है।

शरीर में परमाणुओं के निर्माण का एक अन्य कारण भी है। इस भौतिक आहार के अतिरिक्त हम अपने शरीर में पोर-पोर से निरंतर आहार ग्रहण कर रहे हैं, जो हमें ब्राह्य वातावरण से मिलता है। जैसा बाहर का वातावरण होगा, वैसा ही

आहार मिलेगा और वैसे ही भीतर परमाणु बनेंगे। हमारी इस शरीर-धारा को ये दो आहार मिलते ही रहते हैं। इस शरीर-धारा यानी रूप-धारा के साथ एक अन्य धारा चित्त की यानी 'नाम' की भी चलती है। यह चेतना की धारा भी बिना आहार के आगे नहीं चलती। इसे चेतना का ही आहार मिलता है। चेतना का यह आहार क्या है? जिस क्षण हम जो संस्कार बनाते हैं, चेतना की धारा का उस क्षण का वही आहार है, वही भोजन है। अनुभूतियों के स्तर पर इस सारे खेल को देखेंगे। क्रोध आया कि अगले क्षण का चित्त उसी क्रोध की संतान होगा। अगले क्षण फिर क्रोध का संस्कार जागा तो इस क्रोध के आहार पर यह चित्त-धारा चलती रही। वासना जागी तो देर तक वासना के आधार पर ही चित्त-धारा आगे बढ़ती रही। प्रतिक्षण यही होता रहा। इसे प्रतिक्षण आहार चाहिए बढ़ने के लिए। यदि नया आहार नहीं मिला, नया संस्कार नहीं बनाया गया तो पुराने संस्कार जो भरे पड़े हैं, वे उखड़ने लगते हैं। पुराने जो बीज डाले हैं, उनमें से कोई-न कोई पककर फल देता है। चित्त-धारा पर फल आता है, और चित्त-धारा फिर आगे चलने लगती है। और ज्यों ही फल उभरकर सामने आता है, उसमें एक प्रकार की संवेदना पैदा होती है। यदि हमने उसे प्रिय मान लिया तो फिर बना लिया राग का नया संस्कार। अप्रिय मान लिया तो फिर बना लिया द्वेष का नया संस्कार। ज्यों ही पुराने बीज का फल उभरकर आया त्यों ही नए बीज डालने लगे। इस प्रकार नए संस्कार बनाते ही चले जाते हैं—"सङ्खार पच्चया विञ्ञाण!" इस क्षण के संस्कार से ही अगले क्षण का विज्ञान यानी चित्त उत्पन्न होता है। इस क्षण संस्कार न बने तो किसी पूर्व संस्कार से नया विज्ञान यानी चित्त उत्पन्न होता है। जैसे-जैसे साधना में आगे बढ़ेंगे, यह सारा रहस्य स्पष्ट होने लगेगा। जिस प्रकार का नया संस्कार डालेंगे अथवा पुराने का फल जागेगा, उसी प्रकार का परमाणु उत्पन्न होने शुरू हो जाएँगे और वैसी ही संवेदना होगी।

मन और शरीर का बड़ा गहरा संबंध है। ये जो कलाप हैं, वे शरीर और चित्त दोनों से उत्पन्न होते हैं। यदि चित्त पर क्रोध आया तो शरीर में अग्नि प्रधान परमाणु बन रहे हैं, जले जा रहे हैं। भय आया तो सारा शरीर कंपित हो रहा है, वायु प्रधान परमाणु उत्पन्न होते हैं। चित्त पर जैसे संस्कार डाल रहे हैं, वैसे ही परमाणु उत्पन्न होते हैं। यदि क्रोध का कोई पुराना संस्कार जागा हो तो जलनवाले

परमाणु ही उठते हैं। वर्तमान वातावरण में सर्दी हो तो भी शरीर में जलन, गर्मी महसूस होती है।

शरीर में जो परमाणु उत्पन्न हो रहे हैं वे चाहे भोजन के कारण हों, बाह्य वातावरण के कारण हों या पुराने संस्कारों के कारण हों, यदि उन्हें द्रष्टाभाव से, तटस्थभाव से देखने लगेंगे तो नए संस्कार नहीं बनाएँगे। पुराने दूर होने लगेंगे। बस गाँठें खोलने का रास्ता मिल गया। अब तक जो अविद्या के कारण संस्कार बनते थे उनका सारा रहस्य समझ में आने लगेगा। ''अविज्जा पच्चया सङ्खारा।'' जैसे कोई परमाणु उठा, उसने अपना स्वभाव प्रकट किया किसी संवेदना के रूप में, दुखद संवेदना हो तो प्रतिक्रिया होनी चाहिए, नहीं चाहिए द्वेष-ही-द्वेष की। सुखद संवेदना हो तो चाहिए-चाहिए की, राग-ही-राग की। इस प्रकार प्रतिक्षण संस्कार बनते ही रहते हैं। बात समझ में आ जाए तो प्रतिक्रिया न करें। धीरज से,समता से, द्रष्टाभाव से संवेदना के स्वभाव को देखें तो नया संस्कार बन ही नहीं सकता। और पुराने संस्कारों का क्षय होने लगता है। ''खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं।'' बस,काम की बात हो गई। बंधन खोलने का तरीका मिल गया। लेकिन बंधन खोलने के कार्य स्वयं को ही करना पड़ेगा। यदि स्वयं अनुभूति के स्तर पर यह जाना ही नहीं कि कब राग जागा, कब द्वेष जागा तो राग और द्वेष से छुटकारा कैसे मिलेगा ? जब-जब संवेदना का अनुभव हो, सुखद या दुखद, और उसे जानें तथा द्रष्टाभाव बनाए रखें तो उसके प्रति राग नहीं जागेगा, द्वेष नहीं जागेगा। प्रज्ञा ही जागेगी। ''वेदना पच्चया पञ्ञा'', यों प्रज्ञा में पुष्ट होते-होते स्थित-प्रज्ञ हो ही जाएँगे। जीवनमुक्त हो ही जाएँगे। केवल स्थितप्रज्ञता का पाठ करने से मुक्त नहीं होंगे। स्वयं परिश्रम करना होगा। रास्ते में कठिनाइयाँ अवश्य आएँगी। लेकिन उन्हें हमें ही दूर करना है। कोई चमत्कार नहीं होनेवाला।

इस अज्ञान के, मूढ़ता के, बुद्धि-विलास के स्वभाव को कैसे बनाया ? बार-बार एक ही प्रकार का व्यवहार करते-करते स्वभाव बन गया। राग पैदा करने का स्वभाव, द्वेष पैदा करने का स्वभाव। इस स्वभाव को पलटने में भी तो समय लगेगा ही। लेकिन जब यह मालूम हो जाए कि स्वभाव पलटा जा सकता है तो बहुत बड़े लाभ की बात हो जाए। फिर तो स्वभाव को पलटने का अभ्यास करना है और यही कर रहे हैं। किसी घटना के घटने पर, अंध प्रतिक्रिया करने की बजाय, देखने का अभ्यास कर रहे हैं। जब समता भरे भाव से देखने लगेंगे

तो अंध राग, अंध द्वेष पैदा नहीं होगा। समता में स्थिर है तो क्रिया करेंगे, प्रतिक्रिया नहीं होगी। क्रिया हमेशा रचनात्मक होती है, विधेयात्मक होती है, कल्याणकारी होती है।

अपने स्वभाव को पलटने के अभ्यास में समय लगेगा। कठिनाइयाँ आएँगी, बाधाएँ आएँगी। उन्हें स्वीकार करना होगा। हमारे इस प्रयत्न में पाँच बड़ी बाधाएँ हैं, पाँच बड़े दुश्मन हैं। उन्हें पहचानें। उनके प्रति सजग रहें। बाहर के दुश्मन होते तो सजग रहना आसान हो जाता। लेकिन ये पांचों भीतर के दुश्मन हैं। न जाने कब सिर पर सवार हो जाएँ, पता ही नहीं लगता।

पहला दुश्मन है रोग, दूसरा द्वेष। हम साधना कर रहे हैं राग और द्वेष निकालने की, लेकिन नासमझी में साधना करते-करते राग और द्वेष में उलझने लगते हैं। हमें अमुक-अमुक संवेदना चाहिए, अमुक-अमुक संवेदना नहीं चाहिए। अन्य दो दुश्मन हैं—आलस्य और बेचैनी। साधना करते समय बड़ा आलस्य आने लगता है, नींद आने लगती है। कभी बड़ी बेचैनी होती है। साधना में मन ही नहीं लगता। साधना के अलावा अन्य काम करने को जी चाहता है और साधक दिन भर अन्य प्रकार की प्रवृत्तियों में उलझा रहता है। अन्य काम करेगा, पर साधना नहीं करेगा। पाँचवाँ दुश्मन है—संदेह। मन में विचार उठेगा कि यह क्या साधना है? साँस को देखो, साँस को देखो! क्या देखें साँस को? साँस तो आता-जाता ही है। फिर गर्मी को देखो, सर्दी को देखो! इन्हें क्या देखें? ये तो मौसम की वजह से हैं। इस तरह मन में शंका होगी और साधना छूट जाएगी।

किसी बात को अंधविश्वास से नहीं मानना है। साधना-विधि के बारे में मन में शंका उठे तो तत्काल मार्ग-दर्शक से मिलकर समाधान करा लेना चाहिए। भले अनेक बार मिलें, पर अपनी शंकाओं का निवारण कर लें। इन पाँचों दुश्मनों से बचें, सचेत और सजग होकर काम में लगे रहें।

तीन बात बंधन बंधे, राग द्वेष अभिमान।
तीन बात बंधन खुलें, शील समाधि ज्ञान॥

रोग समझ पाया नहीं, समझा नहीं निदान।
रोग भला कैसे मिटे? कैसे हो कल्याण॥

दुःख समझ पाया नहीं, समझा नहीं निदान।
दुःख भला कैसे मिटे? कहाँ मोक्ष? निर्वाण?

तृष्णा जड़ से खोद कर, अनासक्त बन जाय।
दुख-बंधन से छुटन का, यह ही एक उपाय॥

देखो अपने आपको, समझो अपना आप।
अपने को जाने बिना, मिटे न भव संताप॥

क्षण-क्षण जाग्रत ही रहे, शुद्ध सत्य का बोध।
मन की समता स्थिर रहे, तो ही दुक्ख-निरोध॥

सातवाँ दिन

साधना के सात दिन पूरे हुए। अब तो तीन ही दिन शेष रह गए हैं। अभ्यास की गहराई में उतरने के लिए तीन दिन भी पर्याप्त हैं।

इस मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण बात समझते हुए चलना चाहिए कि अभ्यास की निरंतरता ही सफलता की कुंजी है। जितनी-जितनी निरंतरता होगी, उतनी-उतनी गहराइयों में उतरते चले जाएँगे।

जो काम कर रहे हैं, वह इतना सरल है, इतना सीधा है। कोई गूढ़ रहस्य नहीं है। कोई शरीर की कसरत भी नहीं है, जो एक सामान्य व्यक्ति न कर सके। सीधी-सी बात है। अपने साँस को देखना शुरू किया। साँस को देखते-देखते साँस का स्पर्श सामने आने लगा। साँस के स्पर्श को देखने लगे। फिर कोई संवेदना सामने आने लगी। संवेदना को देखने लगे। फिर शरीर के भीतर जो और सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं, उनकी अनुभूति होने लगी। यह निरंतरता का ही फल है। अनुभूतियों की और गहराइयों तक जाने के लिए, यह निरंतरता बहुत काम देती है। लेकिन पुरानी आदत के अनुसार हम किसी भी काम में आवश्यक निरंतरता देना ही नहीं चाहते। कुछ देर कर लिया, फिर छोड़ दिया। यदि साधना में भी यह बात होने लगी तो मन ऊपर-ऊपर सतह तक ही रह जाएगा। गहराइयों तक पहुँच ही नहीं पाएगा।

इसीलिए बात करने पर रोक लगाते हैं। आर्य-मौन दिया जाता है। क्या होता है यह आर्य-मौन? जबान बंद कर दी तो केवल वाणी का मौन हुआ। आर्य-मौन में तो काया का भी, वाणी का भी और मन का भी मौन। तीनों का मौन करना है। निरंतरता बनाए रखने के लिए आर्य-मौन आवश्यक है। वाणी और काया का मौन रखेंगे तो ही मन मौन होगा।

अब ये तीन दिन शेष बचे हैं। उनमें साधना की निरंतरता को बढ़ाना है। अब तो चौबीस घंटे मौन रहकर साधना ही करनी है। जितनी देर आंख बंद करके अभ्यास करने का समय है, उतनी देर अपने-अपने स्थान पर आँख बँद करके ध्यान करेंगे ही; बाकी जो छुट्टी का समय है—जब चल रहे हैं, स्नान कर रहे हैं, चाय-दूध ले रहे हैं, भोजन कर रहे हैं, जो कर रहे हैं, उसे जानेंगे और उसके साथ-साथ शरीर के जिस भाग में हलन-चलन हो रही है, उसकी संवेदना भी जानेंगे, अथवा आराम कर रहे हैं, बैठे हैं तो भी आँखें

खुली हैं, पर जान रहे हैं कि भीतर क्या हो रहा है। मन सजग है, जागरूक है, सचेत है। जो हो रहा है,उसे जान रहे हैं। रात हुई, बिस्तर पर लेटे। रात सोने के लिए है। लेट गए, आँखें बंद कर लीं। लेकिन सोने से पहले शरीर में अनित्य बोध का चैतन्य फिर लगा दिया। चैतन्य रहते-रहते नींद आ गई। अच्छी बात। सुबह आँख खुलेगी तो इस चैतन्य के साथ ही। बहुधा ऐसे भी होने लगता है कि लेटे हैं, भीतर का चैतन्य जाग रहा हो। थोड़ी-सी नींद आ रही है, थोड़ी सी जागृति है। ऐसा होते-होते सारी रात बीत जाती है। आधी-सी नींद, आँधी-सी जाग। कभी-कभी तो पूरी जागृति में सारी बीत जाती है। नींद का नामोनिशान नहीं। लेकिन यादि सारी रात अनित्य-बोध के चैतन्य में जागते रहे तो जब सुबह उठेंगे, बड़ा हल्कापन महसूस होगा, जैसे गहरी नींद से उठे हैं।

हमने शरीर को लिटाए रखा और पूरा आराम दिया उसे। मन को भी आराम चाहिए। मन को इससे बढ़कर कोई आराम नहीं मिलता कि वह समता में स्थित रहे। जितना आराम एक गहरी नींद से प्राप्त होता है, उससे कहीं ज्यादा आराम उसे समताभरी जाग्रत अवस्था में प्राप्त होता है। इसीलिए कहते हैं, ''दुनिया सोती है, योगी जागता है।'' कैसे जागता है ? इस चैतन्य में ही जागता है। उसको नींद की जरूरत नहीं होती ? जो मन वर्तमान स्थिति को केवल द्रष्टाभाव से देख रहा है, उसे बड़ा आराम मिल रहा है। जो मन वर्तमान स्थिति से उत्तेजित हो रहा है, व्याकुल हो रहा है, अपना संतुलन खो रहा है, उसे शांति कहाँ! भारीपन आएगा ही। यही तो साधना है कि मन का संतुलन न बिगड़ने दें। सारी स्थितियों को तटस्थ भाव से, द्रष्टाभाव से, देखते जाएँ। परंतु जोर-जबरदस्ती से जागने का प्रयत्न नहीं करेंगे। यदि कुदरतन नींद आती है तो आने देंगे। यदि अपने-आप जाग बनी रहती है तो बनी रहने देंगे। निरंतर-जागृति, अंत:चेतना की जागृति। एक-एक अणु, जो जाग्रत हो उठा है उसके नर्तन को देखेंगे। कहाँ क्या हो रहा है? कैसे हो रहा है? द्रष्टाभाव से देखेंगे। अनित्य स्वभाव को देखेंगे। यही साधना है।

इस अभ्यास में दो प्रमुख काम हैं। इनको ठीक से समझ लें। हमारा स्थूल मन स्थूल सच्चाइयों को खूब पकड़ लेता है, परंतु जहाँ सूक्ष्म को पकड़ना होता है, वहाँ कतराने लगता है। दूर भागता है, पकड़ना नहीं चाहता।

सूक्ष्मता में ले जाने का अभ्यास करवाएँ। इसीलिए आरंभ स्थूल आलंबन से किया। मोटे-मोटे साँस का आलंबन और उसके सहारे सूक्ष्म साँस पर आ गए। सूक्ष्म साँस भी बड़ा स्थूल लगने लगा, जब हमें साँस का स्पर्श मालूम होने लगा। यह स्पर्श भी स्थूल लगने लगा, जब संवेदना महसूस होने लगी। यह संवेदना भी स्थूल लगने लगी, जबकि उससे भी अधिक सूक्ष्म सच्चाइयाँ महसूस होने लगीं। जैसे-जैसे समय बीतेगा और अभ्यास में पुष्ट होने लगेंगे, अधिक-से-अधिक गहराइयों में चले जाएँगे। यह जो स्थूल अवस्था से सूक्ष्म अवस्था की ओर जाने की यात्रा है, वह यथार्थ की यात्रा है, कल्पनाओं की नहीं। ऐसा यथाभूत जिसका शरीर और मन से संबंध है और जो शरीर और मन में वस्तुतः हो रहा है, उसे जान रहे हैं। यह पहला काम हुआ।

दूसरा इससे बड़ा काम है समता का। हर अवस्था में से मन गुज़र रहा है। अलग-अलग अनुभूतियों में से मन गुजर रहा है और उन अवस्थाओं को, उन अनुभूतियों को, द्रष्टाभाव से देख रहा है। ज्ञाताभाव से जान रहा है। उन परिस्थितियों को, उन अनुभूतियों को न तो अच्छा मानकर खुशियों से नाचने लगता है, न बुरा मानकर व्याकुल होने लगता है। अपना संतुलन कायम रखता है। समता बनाए रखता है। यह समझते हुए कि जो अनुभूति हो रही है, वह स्थायी नहीं है, स्थिर नहीं है, शाश्वत् नहीं है, ध्रुव नहीं है। जो सुबह हो रहा था,वह शाम को नहीं है। इतना ही नहीं, सूक्ष्म स्तर पर देखता है कि प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। तन-मन में कहीं कुछ ऐसा नहीं है, जो स्थिर है, अचल है। जरा-सा प्रकंपन भी है तो इसी बात का द्योतक है कि उसमें कोई परिवर्तन हो रहा है। कहीं स्थायित्व नहीं है। सारा ऐंद्रिय जगत अनित्य है, नश्वर है, भंगुर है।

जो कुछ बाहर या भीतर सघन रूप में दिखाई देता है, वह वास्तव में सघन नहीं है, ठोस नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि सारा शरीर ठोस है। शरीर के साथ मन की बड़ी आसक्ति है। यह 'मैं है' 'मेरा है।'। बड़ी गहन अवस्थाओं में अर्ध-चेतन,अचेतन मन इस शरीर की इन ठोस अवस्थाओं के साथ इस कदर हिल-मिल गया है कि सच्चाई को जान ही नहीं पा रहा। तादात्म्य स्थापित हो गया है। इस साधना के द्वारा जैसे-जैसे इन गहराइयों में जाते हैं, यह तादात्म्य टूटता है तो सारा ठोसपन समाप्त होने लगता है, बिखरने

लगता है। जब तक यह धनसंज्ञा है, तब तब भ्रांति रहती ही है। यह भ्रांति कैसे टूटे? विश्रृंखलित कर-करके, विश्लेषण कर-करके, टुकड़े-टुकड़े कर-करके सच्चाई को जानें, प्रकट सत्य का भेदन कर परमार्थ सत्य को जानें। परमाणुओं का परमार्थ सत्य क्या है? एक स्थान पर बार-बार कुछ-कुछ देर तक ध्यान करेंगे तो देखेंगे कि वह ठोस-से-ठोस स्थान किस तरह खुलता चला जा रहा है। केवल सूक्ष्म-सूक्ष्म प्रकंपन रह गया है। सारा ठोसपना समाप्त हो गया है। इस प्रकार भौतिक पदार्थ के ठोसपने को समाप्त करके हम उसके सही स्वरूप को देख पाते हैं। उसका यथार्थ दर्शन करते हैं। जैसे शरीर, वैस मन। हम यह भी देख पाते हैं किस प्रकार यह मन या चित्त की वृत्तियाँ भी ठोस होकर, घनीभूत होकर प्रकट होती हैं और हमारे सिर पर सवार हो जाती हैं। पीड़ा आती है। पीड़ा शरीर को नहीं, पीड़ा मन की है। पीड़ा मन को हो रही है। हर सजीव प्राणी के साथ जो विज्ञान है, चेतना है, वह पीड़ा को महसूस करता है। यह पीड़ा जो चित्त की एक वृत्ति है, उसे विश्लेषण करके देखेंगे। कैसे पीड़ा है? देखूँ तो सही। कहाँ तक है? कहाँ अधिक है, कहाँ कम है? इसका प्रभाव कहाँ-कहाँ है? पीड़ा को भोगने के बजाय, द्रष्टाभाव से देखने लगेंगे। उसका विश्लेषण करेंगे, टुकड़े-टुकड़े करेंगे। बस! जहाँ टुकड़े होने लगे, घनत्व नष्ट होगा। भोक्ताभाव न रहे। द्रष्टाभाव हो। जैसे यह दूसरे की पीड़ा है, मैं तो महज देख रहा हूँ। द्रष्टा बना कि टुकड़े हुए। भोक्ता बनकर आसक्त हुआ कि फिर घनीभूत हो गई। फिर डूब गया इस संगठन की माया में, संश्लेषण की माया में, घन-संज्ञा की माया में। कैसे इससे बाहर निकलें? केवल बौद्धिक स्तर पर समझकर आज तक कोई बाहर निकला नहीं। कोई द्रष्टा बना नहीं। व्यवहार के क्षेत्र में, अभ्यास के क्षेत्र में, बाहर निकलना होगा। चाहे चित्त हो, चित्त की वृति हो, शरीर हो, जब उसके टुकड़े-टुकड़े करके देखने लगेंगे तो वे इतने सूक्ष्म अवस्था में सामने आएँगे कि उनका यथार्थ दर्शन होने लगेगा। उनका सही स्वभाव समझ में आने लगेगा। तब 'मैं', 'मेरे' का भाव स्वतः नष्ट होने लगेगा। उनके साथ आसक्ति टिक ही नहीं सकेगी। ज्यों-ज्यों आसक्ति से निकलते चलेंगे, दुख से निकलते चलेंगे। आसक्ति ही तो दुख है। लेकिन यह सारी बात अभ्यास से ही होगी। अभ्यास ही सच्चाई का दर्शन कराएगा। बुद्धि-विलास नहीं।

बुद्धि के स्तर पर समझने के लिए चर्चा की जा सकती है, पठन–पाठन किया जा सकता है, लेकिन यह सब हो अभ्यास में उतरने के लिए ही। तभी लाभ होगा।

कल हमने देखा कि इस अभ्यास के करने में पाँच तरह की बाधाएँ आती रहती हैं और अभ्यास में रुकावट पैदा करती रहती हैं। इन पाँच दुश्मनों की बातें सुनकर मन में निराशा न आ जाए। हमारे साथ पाँच बड़े दोस्त भी हैं। वे बड़े बलशाली हैं। इन पाँचों दोस्तों को भी समझें। इनको बलवान बनाए रखें, इनको सदा साथ रखें। खूब प्रगति होगी।

पहला मित्र, जो हमें आगे बढ़ने में सहायक होता है, वह है श्रद्धा। श्रद्धा बहुत बड़ा बल है, आवश्यक बल है। कोई व्यक्ति किसी विधि का अभ्यास करना चाहे, यदि उसके मन में उस विधि के प्रति श्रद्धा न हो, विश्वास न हो, भरोसा न हो, तो वह एक कदम भी नहीं चल सकता। श्रद्धा तो अभ्यास की आधार–शिला है। लेकिन हमें यह ध्यान रखना है कि जो श्रद्धा पैदा की वह अंध–विश्वास में न बदल जाए। भक्ति और अंध–भक्ति में, श्रद्धा और अंध–श्रद्धा में, विश्वास और अंध–विश्वास में, जो विभाजन रेखा है वह इतनी सूक्ष्म है कि नजर ही नहीं आती। इसलिए हमें अत्यंत सावधान रहना होगा। जब तक श्रद्धा के साथ विवेक है, ज्ञान है, समझ है, तब तक अंध नहीं है। अतः फलदायी है। श्रद्धा आँखें हैं, विवेक चरण। दोनों को समन्वय, सहयोग, बड़ा आवश्यक है। किसी देवी–देवता के प्रति, ब्रह्मा के प्रति, भक्ति हो तो बहुत अच्छी बात है, यदि वह भक्ति अपने आराध्य के गुणों की याद दिलावे और उन्हें धारण करने की प्रेरणा दे। यदि भक्ति केवल कामनाओं को पूर्ण करने की लालसा के लिए हो तो वही बंधन का कारण बन जाएगी। न धर्म रहा, न ज्ञान, तो ऐसी भक्ति अंध–भक्ति बन जाएगी। ऐसी भक्ति हानिकारक ही होगी। इसलिए खूब अच्छी तरह से समझ लें कि श्रद्धा यदि विवेक के साथ है, समझ के साथ है, सम्यक् –दृष्टि के साथ है, तो हमारा खूब कल्याण करती है और यदि मिथ्या–दृष्टि के साथ है तो कल्याण करना तो दूर रहा, हानि ही करती है।

हमारा दूसरा मित्र वीर्य है, यानी प्रयत्न, प्रयास, पुरुषार्थ, पराक्रम। हममें खूब श्रद्धा है, लेकिन श्रद्धा के साथ यदि उस कल्याणकारी मार्ग पर चलने का

प्रयत्न नहीं करते हैं तो कैसे लाभ होगा? हमें दृढ़ता के साथ, निरंतरता के साथ, बताई हुई विधि के अनुसार, मार्ग पर चलना है। गलत तरीके से अभ्यास करेंगे तो सही फल कैसे मिलेगा! सही तरीके से अभ्यास करना होगा, तभी फलदायक होगा, कल्याणकारी होगा। यह हमारा दूसरा बल है।

हमारा तीसरा मित्र स्मृति है। स्मृति का अर्थ याददाश्त न समझें। उन दिनों की साधना के क्षेत्र में 'स्मृति' शब्द का अर्थ होता था जागरूकता, सावधानता। सावधानता और जागरूकता वर्तमान के प्रति हुआ करती है, भूतकाल के प्रति नहीं। भविष्य के प्रति नहीं। भूतकाल की तो याद आ सकती है। भविष्यकाल की कल्पनाएँ, कामनाएँ हो सकती हैं। सावधानता वर्तमान की ही होगी। यह अभ्यास ही वर्तमान में जीने का अभ्यास है। वर्तमान के क्षण-क्षण के प्रति जागरूक रहने का अभ्यास है। भूतकाल के संस्कारों से, यादों से, भविष्यकाल की कल्पनाओं से, कामनाओं से, हटने का अभ्यास है। साँस को देख रहे थे तो वर्तमान स्थिति को ही देखने लगे। अब संवेदनाओं को देख रहे हैं तो सारे शरीर में, जो वर्तमान की यथाभूत स्थिति है, उसे ही देख रहे हैं। आगे के लिए कोई कामना लेकर काम नहीं कर रहे। पीछे की किसी याददाश्त में नहीं डूब रहे। जितना हो सकता है, इस वर्तमान के, यथाभूत के साथ चल रहे हैं। यही स्मृति हमारा तीसरा बड़ा मित्र है, बल है।

हमारा चौथा मित्र समाधि है। यह जो प्रत्येक वर्तमान क्षण के प्रति जागरूकता है वह बराबर बनी रहे। हम इस क्षण के प्रति जागरूक हैं। अगला क्षण ज्यों ही वर्तमान का क्षण बनता है, उसके प्रति जागरूकता बनी रहे, यही सम्यक् समाधि है, जो कि हमारा चौथा बड़ा मित्र है।

हमारा पाँचवाँ बड़ा मित्र है प्रज्ञा। सारे मैल को काटनेवाली तो यह प्रज्ञा ही है। सारे दुखों को दूर करनेवाली तो यह प्रज्ञा ही है। बाकी तो सारे सहायक हैं। साथ दे रहे हैं कि हम प्रज्ञा तक पहुँचें, मैल काटना शुरू कर दें। क्या प्रज्ञा है? सभी स्थितियों में चित का संतुलन बिगड़ने न दें। समता बनाए रखें। जिंदगी में उतार-चढ़ाव आते ही रहेंगे। भीतर भी आ रहे हैं। यह सारा भीतर का अभ्यास इसलिए कर रहे हैं कि समता पुष्ट करें। भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हमारे सामने आ रही हैं—कभी सुखद संवेदना जागती है, कभी दुखद।

सुखद संवेदना जागती है तो अच्छा मानकर उसके प्रति राग-रंजित नहीं हो जाते। दुखद संवेदना जागती है तो बुरी मानकर उसके प्रति द्वेष-दूषित नहीं हो जाते। दोनों परिस्थितियों को समत्वभाव से देखते हैं। मन की समता नहीं बिगड़ने देते। समझते हैं कि दोनों ही अनित्य हैं। द्रष्टा-भाव से उसके इस अनित्य-स्वभाव को ही देखते हैं। यही विपश्यना का अभ्यास है। यही प्रज्ञा है। प्रज्ञा हमारा पाँचवाँ बड़ा बल है।

यदि ये हमारे पाँच मित्र, पाँच बल, साथ रहेंगे तो कोई भी दुश्मन हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। प्रगति होती ही जाएगी। आगे बढ़ते ही जाएँगे। चित्त को निर्मल करते ही जाएँगे।

शील धरम की नींव है, ध्यान धरम की भीत।
प्रज्ञा छत है धरम की, मंगल भवन पुनीत॥

जीवन में आते रहें, पतझड़ और वसंत।
दोनों में समता रहे, होय दुखों का अंत॥

मानव का जीवन मिला, धर्म मिला अनमोल।
अब श्रद्धा से जतन से, अपने बंधन खोल॥

श्रद्धा तो जागे मगर, छूटे नहीं विवेक।
श्रद्धा और विवेक से, मंगल जगें अनेक॥

जप-तप व्रत उपवास के, साधन जुटे अनेक।
साधन ही बाधक बने, छूटा ज्ञान विवेक॥

कितने दिन बिरथा गए, करते वाद-विवाद।
अवसर आया धरम का, चाख धरम का स्वाद॥

आठवाँ दिन

आज हमारी साधना के आठ दिन पूरे हुए। अब बहुत थोड़ा समय बचा है। इसका भरपूर लाभ लेने के लिए भरपूर श्रम करना होगा।

श्रम करने के लिए ही तो आए हैं। तपने के लिए, पुरुषार्थ करने के लिए ही तो आए हैं। जो शाम को धर्म-चर्चा होती है, वह वाणी-विलास और बुद्धि-विलास का विषय न बन जाए। जिज्ञासुभाव से, मुमुक्षुभाव से, धर्म की इस विधि को, धर्म धारण करने के तरीके को, ठीक तरह से समझने के लिए इस धर्म-चर्चा का प्रयोग हो। मुख्य बात तो धर्म धारण करना है। धर्म धारण करने के लिए अभ्यास करना होता है, प्रयास करना होता है। कैसे प्रयास करें? विधि को ठीक समझ-समझकर प्रयास करें तो प्रयास लाभदायक होगा।

आओ, फिर समझें, कैसी है या साधना? क्या यह विधि? भीतर की सच्चाई को जानना है और जानकर समता में स्थित रहना है। कभी-कभी साधक को एक भ्रांति हो जाती है। जो संवेदना मिल रही है, उसका मूल्यांकन करने लगता है। मूल्यांकन करता है तो उसी को प्रगति का मापदंड मान लेता है। एक प्रकार की संवेदना मिलती है तो मान बैठता है कि साधना बहुत ऊँची है, अन्य प्रकार की संवेदना मिलती है तो मान बैठता है, साधना बहुत नीची है। गलत मापदंड हो गया। साधना का सही मापदंड तो यह है कि जो संवेदना प्रकट हो रही है, उसे जान रहे हैं और जानकर कितनी समता में स्थित रहते हैं। प्रगति का यथार्थ मापदंड समता है, संवेदना नहीं ।

अंतर्मन की गहराइयों में जो कुछ एकत्र कर रखा है, उसे निकाल बाहर करने की ही तो साधना है। कितने लंबे अर्से से एकत्र ही करते आए हैं। न जाने कैसे-कैसे कर्म-संस्कार इकट्ठे कर रखे हैं। इस साधना द्वारा न जाने किस समय कौन-सा संचित कर्म-संस्कार अंतर्मन की गहराइयों से उभरकर सतह पर आए, उसकी उदीर्णा हो? जिस प्रकार का कर्म-संस्कार होगा, उदीर्णा होने पर उसी प्रकार की संवेदना होगी। सुखद हो सकती है, दुखद हो सकती है, स्थूल हो सकती है, सूक्ष्म हो सकती है। कौन-सा संस्कार उभरकर सामने आया, उससे नहीं मापा जाता कि प्रगति हो रही है कि नहीं हो रही है। जो भी संस्कार उभरकर सामने आया हमने उसे कैसे देखा? समता से देखा

या समता खो दी! संवेदना के प्रकट होने पर यदि समता खो दी, फिर राग पैदा करना शुरू कर दिया, द्वेष पैदा करना शुरू कर दिया, तो प्रगति नहीं हो रही।

पुरानी आदत के अनुसार, पुराने स्वभाव के अनुसार, यदि राग या द्वेष की प्रतिक्रिया हो भी जाए तो देखना यह है कि कितनी जल्दी फिर होश में आ गए। फिर संवेदना को देखने लगे, समता के साथ। चित्तधारा पर राग का आरंभ, द्वेष का आरंभ होने ही न दें और यदि आरंभ हो गया तो जल्दी-से-जल्दी उसे फिर रोक दें, संवर कर लें—यही साधना है।

किस प्रकार की संवेदना कब प्रकट होगी, इसका कोई निश्चय नहीं। इसमें हमें कुछ लेना-देना भी नहीं। बहुत बार ऐसा होने लगता है कि शरीर में एक जैसी सूक्ष्म-सूक्ष्म संवेदनाओं की धारा बहने लगती है। धारा-प्रवाह अनित्य-बोध की अनुभूति होने लगती है। कहीं कोई स्थूलता नहीं, ठोसपन नहीं, सघनता नहीं, और एकाएक गहरा आपरेशन हुआ कि अंतर्मन की गहराइयों से कुछ उभरकर आया। शरीर के किसी अंग पर मूर्च्छा-सी छा गई। किसी अंग पर कोई स्थूल संवेदना जाग पड़ी, फिर कुछ घनीभूत होने लगा। ऐसे हो तो घबराना नहीं है। उसे ही साक्षीभाव से देखना शुरू कर दें। देखते-देखते उसका विघटन होता ही जाएगा, उसका विश्लेषण होता ही जाएगा। टुकड़े-टुकड़े होते-होते सघनता दूर होगी ही। फिर धारा-प्रवाह की अनुभूति होने लगेगी। तदुपरांत फिर कोई और संचित संस्कार उभरकर ऊपर आ सकता है। जब तक भीतर संग्रह है, तब तक यह उभार आएगा ही। संग्रह तो है ही। अतः जब-जब उभरकर ऊपर आएँ, तब-तब अपनी ओर से संवर कर लें, रोक लगा दें, यानी उभार की वजह से नया संस्कार न बनने दें। यही संवर है।

ज्यों ही संवर किया यानी रोक लगा दी कि प्रकृति का, कुदरत का,विधान, नियम अपने-आप काम करने लगता है। संवर किया कि निर्जरा होनी शुरू हो जाएगी। संवर करते ही किसी अन्य संस्कार का फल उभरकर ऊपर आएगा, उदीर्णा होगी। देखेंगे उस समता से तो उसकी भी निर्जरा हो जाएगी। उसका क्षय हो जाएगा। संवर करना प्रमुख है, लेकिन संवर ऊपर-ऊपर का नहीं होना चाहिए। ऊपरी-ऊपरी संवर से इतना ही लाभ होगा कि शरीर और

वाणी के दुष्कर्मों से बच जाएँगे। लेकिन अंतर्मन में मैल बनाने का जो स्वभाव हो गया है, उस पर रोक लगानी आवश्यक है। भीतर-ही-भीतर अंतर्मन ही गहराइयों में मैल पैदा करने की जो प्रक्रिया है, उस पर रोक लगानी होगी, नहीं तो मैल का संवर्धन होता ही जाएगा। इसीलिए संवर अंतर्मन की गहराइयों तक होना चाहिए।

वैसे, आँखों का संवर बहुत अच्छा है, कल्याणकारी है। कानों का संवर, नाक का संवर, जीभ का संवर, काया का संवर, वाणी का संवर बहुत अच्छा है, कल्याणकारी है। पर सारे संवरों में अच्छा मन का संवर है और वह भी संपूर्ण मानस का संवर, अंतर्मन की गहराइयों तक का संवर। यह जो भी कुछ भीतर-भीतर संवदेनाएँ हो रही हैं इसकी अनुभूति अचेतन मन को, अर्धचेतन मन को होती ही रहती है और परिणामस्वरूप अंदर-ही-अंदर प्रतिक्रिया भी होती रहती है। इससे चित्त-धारा पर राग और द्वेष पैदा होता रहता है। और चेतन मन को इस प्रक्रिया का पता ही नहीं रहता। अत: केवल चेतन चित्त तक का संवर इस पर रोक नहीं लगा सकेगा। ज्यों-ज्यों समता में रहने का अभ्यास बढ़ेगा, चेतन, अर्धचेतन और अचेतन मन के बीच की दीवारें टूटेंगी। जो कुछ भीतर हो रहा है, सब मालूम होने लगेगा और समग्र मानस समता में रहना सीखेगा, अतः समग्र मानस में संवर होगा।

यह गहरा संवर अंतर्मन की गहरी ग्रंथियों को काटता है। यह बात महज इसलिए नहीं माननी है कि किसी महापुरुष ने कही है या किसी शास्त्र में लिखी है। अपनी अनुभूतियों से जानना है और जानकर मानना है, तो ही मंगल सधेगा। प्रकृति के इस नियम को अनुभूतियों से समझेंगे तो स्वतः कल्याण सधने लगेगा। जब अनुभूतियों के स्तर पर समझ में आने लगता है, तब सचमुच गहरा संवर होने लगता है। दुख-विमुक्ति का रास्ता खुलने लगता है। ठीक ही कहा गया है :

''अनिच्चावत सङ्खारा उप्पादवयधम्मिनो।
उपज्जित्वा निरुजझन्ति तेसं वूपसमो सुखो॥''

सचमुच, सारे संस्कार अनित्य हैं, उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं—उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय। यही इनका धर्म है। यह ध्रुव धर्म है। यह बदलनेवाली प्रक्रिया कभी नहीं रुकती। परिवर्तनशीलता ही इसका नित्य स्वभाव है,

लेकिन बहुत गहराइयों में जाकर देखेंगे तो मालूम होगा कि उत्पाद होकर जो व्यय हुआ, बेहोशी की अवस्था में व्यय हुआ। अत: फिर उत्पाद का कारण बना। जिस कर्म-संस्कार का बीज डाला, उसका फल आया और समाप्त हुआ। लेकिन नया बीज फिर पड़ा, फिर फल आया। यों क्रम चलता रहता है। अंत होता ही नहीं। लेकिन यदि उत्पन्न होकर सर्वथा क्षय हो जाए तो कल्याण हो जाए। अंतर्मन में भरे संस्कारों की एक परत ऊपर आई और उतरी तो वास्तव में उदीर्णा हुई। क्षय हुआ। "तेसं वूपसमो सुखो", यों एक-पर-एक परत का उपशमन होता चला जाए, क्षय होता चला जाए। जितना-जितना उपशमन हो, उतना-उतना मुक्त हुआ दुखों से। उतना-उतना सुख आया। सारे ही संस्कारों का क्षय हो जाए तो परमसुख, निर्वाण का साक्षात्कार हो जाए। "निब्बानं परमं सुखं।"

प्रकृति के दो मोटे नियम हैं, उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। एक तो संवर्धन का नियम है। बढ़ता है, बढ़ता है। विशदीकरण ही होता रहता है। दूसरा, यदि रोक लगा दी जाए तो घटने का नियम है। जब घटने का काम शुरू हो गया और नया बनना बंद हो गया "खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं"? तो धीरे-धीरे सारे पुराने संस्कार समाप्त हो जाते हैं। हर व्यक्ति, जिसने-जिसने भी सही माने में संवर करना शुरू कर दिया, उसी की कर्म-निर्जरा शुरू हो गई। कितना भी कर्म-संग्रह क्यों न हो, अगर नया संग्रह करना बंद कर दें तो पुरानों को समाप्त होने में, कम देर लगे या ज्यादा देर लगे।

प्रकृति के इस नियम को जानने के लिए समझें कि यह चित्तधारा किस प्रकार बहती है। चित्तधारा को आगे बढ़ने के लिए प्रतिक्षण आहार चाहिए। नया संस्कार एक आहार है, पुराने संस्कारों का फल दूसरा आहार है। इन दोनों में से कोई-न-कोई आहार मिलता है तो यह चित्तधारा आगे बढ़ती है। बहुधा होता है कि चित्तधारा को जब हम एक आहार देते हैं, एक नया संस्कार डालते हैं तो रुकते नहीं। अगले क्षण फिर वैसा ही आहार देते हैं। यों क्षण-प्रतिक्षण आहार देते चलते हैं। किसी बात को लेकर क्रोध आया तो बड़ा नन्हा-सा क्षण होता है क्रोध का, पलक झपकने मात्र में कितने ही शत-सहस्र कोटि बार उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाला क्षण। लेकिन क्रोध का संस्कार पैदा करते ही अगले क्षण फिर क्रोध पैदा किया। अगले क्षण फिर

क्रोध-ही-क्रोध के संस्कार इस चित्तधारा को देर तक आगे बढ़ते चलते हैं। कभी तो घंटों क्रोध चलता रहता है। क्रोध रुका तो कोई और संस्कार बनाना शुरू कर देंगे। वह चलेगा देर तक। फिर कोई और। कभी भय। कभी वासना। कभी कुछ और। यों पुराने संस्कारों के नष्ट होने की बारी ही नहीं आती। क्षण-क्षण नया ही बनाए जा रहे हैं। यदि हम संवर कर लें यानी रोक लगा दें तो नए संस्कार नहीं बनते। तब चित्तधारा किसके बल पर चलती है? क्योंकि हमने नया संस्कार नहीं बनाया, तो कोई-न-कोई संस्कार-बीज, जिसका फल हो सकता है, कुछ देर बाद आनेवाला हो, अब जल्दी पककर आएगा। इसे विपाक का त्वरतिकरण कह सकते हैं। तुरंत कोई पुराना कर्म-संस्कार चित्त-धारा पर अपना फ़ल लेकर आता ही है। यही उदीर्णा है। आया कोई पुराना कर्म-संस्कार चित्त-धारा पर, अपना फल लेकर और उसके सहारे चित्त-धारा आगे बढ़ने लगी। जैसा कर्म था वैसा ही फल आया। हम उसे समता से, प्रज्ञा से, देखने लगे तो हुआ निरोध उसका। जितने-जितने पुराने संस्कार क्षीण होते चले जाएँगे उतना-उतना हल्कापन आएगा ही। सही माने में सुख आएगा। दुखों से छुटकारा होगा।

विधि की पूर्णता इस बात में है कि अंतर्मन की गहराइयों में जो कुछ हो रहा है, उसे जानें और समता में रहें। यदि हम केवल ऊपरी-ऊपरी सतही-सतही सच्चाई का अनुभव कर रहे हैं तो ऊपरी सतह तक समता में रहें। यदि एक-एक कदम सूक्ष्मता की ओर बढ़ रहे हैं तो जिस-जिस स्तर तक पहुँचें उस-उस तक समता में रहें। यों अभ्यास करते-करते सारा मानस चेतन हो उठे तो सारे मानस पर समता स्थापित हो जाए।

अनुभूतियों से समझेंगे कि शरीर की संवेदनओं का चित्त-धारा से क्या संबंध है? और चित्त-धारा का शरीर की संवेदनाओं से क्या संबंध है? किस प्रकार चित्त (माइंड)पदार्थ (मैटर) में और पदार्थ (मैटर) चित्त (माइंड) में परिवर्तित हो जाता है? क्रोध जागा और शरीर में अग्नि-प्रधान परमाणु उत्पन्न होने लगे। भय जागा, वायु-प्रधान परमाणु उत्पन्न होने लगे और उनकी संवेदना शरीर में होने लगी। शरीर में जलन की संवेदना हो रही है या कंपन-धूजन की हो रही है, कितना गहरा संबंध है चित्त का शरीर के साथ! जिस प्रकार के नए संस्कार का निर्माण करते हैं, शरीर में उसी प्रकार की संवेदना

का निर्माण करते हैं। जब पुराने संस्कार बाहर निकलेंगे तो संवेदना पैदा करके ही निकलेंगे। हर क्रोध के संस्कार ने अग्नि-तत्त्व प्रकट किया था। अब यदि पुराने क्रोध के संस्कार बाहर आ रहे हैं तो पुनः अग्नि धातु ही जागेगी। गर्मी महसूस होगी। इस प्रकार उत्पन्न संवेदना को यदि हम समता से देखते जाएँगे और प्रतिक्रिया नहीं करेंगे तो ये संग्रहीत संस्कार स्वतः क्षीण होते चले जाएँगे। अतः प्रमुख समता है।

एक बार कुछ लोग भगवान के पास आए पूछने कि भगवान! हमारा सही मंगल किस बात में है? भगवान ने उन्हें मंगल-धर्म समझाए। गृहस्थों के लिए अड़तीस मंगल-धर्म सिखाए। पहले से अगला उत्तम। इस तरह समझाते-समझाते अंतिम मंगल-धर्म पर पहुँचे तो कहा :

''फुट्ठस्स लोकधम्मेहि, चित्तं यस्स न कम्पति।
असोकं विरजं खेमं, एतं मङ्गलमुत्तमं॥''

लोक-धर्म का स्पर्श होने पर—क्या हैं लोक-धर्म? जीवन के ये ही उतार-चढ़ाव, वसंत-पतझड़, सुख-दुख, यश-अपयश, लाभ-हानि, जय-पराजय हैं लोक-धर्म। इनका स्पर्श होने पर जिसका चित्त कंपायमान नहीं होता, डाँवाँडोल नहीं होता, समता में रहता है, 'असोक' शोक-रहित रहता है, 'विरजं' विरज विमल रहता है, 'खेमं' योग-क्षेम से भरपूर रहता है, अगले क्षण के लिए निश्चिंत रहता है, पूर्ण सुरक्षित महसूस करता है, यों समता में रहता है तो उत्तम मंगल सधने लगता है।

कैसे समता का जीवन जीएँ? ऊपर से दमन करके नहीं। भीतर से समता आनी शुरू हो, ताकि ऊपर उसका प्रभाव प्रकट होने लगे। यदि गलती हुई भी, समता टूटी भी, चित्त-धारा विषम हो भी गई, तो कितनी जल्दी पुनः होश आ गया, पुनः समता में स्थित हो गए। इसी का अभ्यास करना है। शनैः-शनैः ही सुधार होता है। शनैः-शनैः ही दुख-विमुक्ति होती है। पुराना कितना संग्रह है, इस पर निर्भर है। किसी के पास कम संग्रह है, वह जल्दी खत्म कर लेगा। यदि संग्रह ज्यादा है तो अधिक देर तक परिश्रम करके समाप्त करना होगा। सही तरीके से जितना-जितना संवर करेगा, उतना मुक्त होते ही चला जाएगा। किसी जाति का हो, किसी संप्रदाय का हो, काला हो या गोरा हो, फर्क क्या पड़ता है? कुदरत का कानून सब पर समान रूप से लागू

होता है। नाम चाहे जो हो —हिंदू हो, मुसलमान हो, जैन हो, बौद्ध हो, ईसाई हो—वही प्रबुद्ध हो जाएगा तो अच्छा इंसान हो जाएगा। अच्छा हिंदू, अच्छा मुसलमान, अच्छा जैन, अच्छा बौद्ध, अच्छा ईसाई, अच्छा आदमी बन जाएगा। धर्म अच्छा आदमी बनना सिखाता है। यह अच्छा आदमी बनने की विद्या है। अच्छे आदमी बनेंगे तो स्वयं भी सुख से रहेंगे, औरों के भी सुख का कारण बनेंगे। कैसे सही माने में बोधि जाग जाए, प्रबुद्ध हो जाए! कैसे सही माने में प्रज्ञा जाग जाए! सही माने में प्रज्ञा में स्थित हो जाएँ! स्थितप्रज्ञ बन जाएँ। अपनी-अपनी मेहनत पर निर्भर करता है।

हर आदमी अपना मालिक स्वयं है। अपनी गति खुद ही बनाता है।

''अत्ता ही अत्तनो नाथो, अत्ता ही अत्तनो गति।''

इस क्षण क्या संस्कार डाले, यह उसके अपने अधिकार में है। जो बीत गया सो बीत गया। उस पर कोई अधिकार नहीं। लेकिन यदि इस क्षण होश में है तो वह वर्तमान का मालिक बन गया। सारी साधना इसी बात के लिए है कि इस क्षण होश है कि नहीं। प्रतिक्षण बीज बोने का क्षण है। कैसा बीज बोते हैं? यदि राग और द्वेष का बीज बो रहे हैं तो अपने लिए दुख ही पैदा किए जा रहे हैं। कैसे इस दुख चक्र को पलटें? कैसे यह दुख-चक्र धर्म-चक्र में पलटें? कैसे यह लोक-चक्र मुक्ति-चक्र में पलटें? बौद्धिक स्तर पर भले सारी बात समझ में आ जाए, लेकिन बिना अभ्यास के जीवन में उतरती नहीं। दुख-चक्र बढ़ानेवाला स्वभाव पलटकर कैसे धर्म-चक्र में परिवर्तित हो, यह बिना अभ्यास के संभव नहीं होता। केवल कामना करने से या चमत्कार से स्वभाव नहीं पलटता। यदि हमें स्वभाव पलटना है तो अभ्यास करना ही होगा। अभ्यास यही करना होगा कि कैसे रोग-द्वेष पैदा करना बंद करें। साधना इसीलिए है। इसे ठीक तरह से बौद्धिक स्तर पर समझकर व्यवहार में उतारना है, अभ्यास में उतारना है। धारण करना है। धर्म धारण करते हैं तो ही सुख मिलता है। विधि के अनुसार ठीक-ठीक अभ्यास करें। सफलता अवश्य मिलेगा।

धरम हमारा ईश है, धरम हमारा साथ।
हम तो निर्भय ही रहे, धरम हमारे साथ॥

राग सदृश ना रोग है, द्वेष सदृश नां दोष।
मोह सदृश ना मूढ़ता, धर्म सदृश ना होश॥

जितना गहरा राग है, उतना गहरा द्वेष।
जितना गहरा द्वेष है, उतना गहरा क्लेश॥

भोगत-भोगत भोगते, बंधन बंधते जायं।
देखत-देखत देखते, बंधन खुलते जायं॥

ज्यों-ज्यों अंतर्जगत में, समता बढ़ती जाय।
काया वाणी चित्त के, कर्म सुधरते जायं॥

राग छुटे समता बढ़े, मिले परम संतोष।
दूर होंय बेचैनियाँ, मिले शांति-सुख-कोष॥

नवाँ दिन

साधना के नौ दिन पूरे हुए। नौ दिन तक जो अभ्यास किया, उसे भली-भाँति समझें। क्या किया? ऐसे क्यों किया? क्या लाभ है इसका दैनिक जीवन में? यदि साधना का जीवन में उपयोग नहीं होता है तो यह भी कर्मकांड बनकर रह जाएगी, एक धार्मिक अनुष्ठान बनकर रह जाएगी। धर्म का लाभ इसी जीवन में मिलना चाहिए, तब तो धर्म धर्म है, अन्यथा धोखा है। धर्म के नाम पर कितनी भ्रांतियाँ चलती हैं?

यह साधना आत्म-दर्शन की साधना है, स्व-दर्शन की साधना है। अपने आपको देखने की साधना है। अपने-आपको कैसे देखना है? जो सच्चाई अपने बारे में इस क्षण प्रकट हुई है, उसे देखना है। कितनी भी अप्रिय क्यों न हो, सच्चाई तो सच्चाई है। यदि हम सदा अप्रिय से मुँह मोड़ते रहेंगे, पलायन करते रहेंगे, तो सच्चाई से विमुख हो जाएँगे। यदि हममें कोई दोष है, खोट है, तो उसे भली-भाँति जानना चाहिए, स्वीकार करना चाहिए। तब ही दोष निकाल सकेंगे।

जीवन में एक बड़ी भ्रांति चलती है। इसका कारण है कि हम सदैव बहिर्मुखी ही रहते हैं। सदा औरों को ही देखते हैं, बाहर की परिस्थितियों को ही देखते हैं। अत: दोष हमेशा बाहर ही देखते हैं। स्वयं दुखी हुए तो दुख का कारण बाहर ही ढूँढ़ते हैं। बाहर की घटना, स्थिति, वस्तु, व्यक्ति को ही अपने दुख का कारण मानते हैं और उसे ही सुधारने में अपना सारा श्रम लगाते हैं। कैसे बाहर की स्थिति मनोनुकूल हो जाए? कैसे बाहर का हर व्यक्ति हमारे मनोनुकूल आचरण करने लगे? इसके लिए सारा जीवन लगा देते हैं, पर असफलता ही हाथ लगती है। दुख दूर नहीं होते।

अपने बारे में एक मिथ्या कल्पना बना ली कि मैं बड़ा शुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, निर्लिप्त हूँ, मुक्त हूँ। पर सच्चाई यह है कि मुझमें कितना राग भरा पड़ा हुआ है, कितना द्वेष भरा है। सच्चाई से मुख मोड़ने से, भागने से, पलायन करने से, समस्या का हल नहीं होता, समाधान नहीं होता।

विपश्यना इसीलिए है कि अंतर्मुखी होकर अपने-आपको देखें। जैसे हैं, वैसे देखें। यदि इस समय मेरा चित्त राग-रंजित है, मोह-विमूढ़ित है, तो उसे ऐसा ही देखना है। यदि रोगी अपने सही रोग को जान लेता है, कारण को

पहचान लेता है, तो कारण दूर करके रोग से विमुक्त हो जाता है। जो रोगी रहते हुए भी इस धोखे में रहता है कि मैं रोगी नहीं हूँ, वह कभी रोग से मुक्त नहीं हो सकता। सारा जीवन धोखे में ही बीत जाएगा। अपने दोष का दर्शन करना है, दुख का दर्शन करना है। दुख का दर्शन करने का मतलब निराशा में डूबना नहीं है।

अगर धर्म केवल यही बताता है कि सर्वत्र दुख है, जन्म से लेकर मृत्यु तक दुख-ही-दुख है और इस दुख का कोई निस्तार नहीं है तो सचमुच बड़ी निराशा की बात होती। ऐसा धर्म हमारे काम का नहीं होता। पर कितने कल्याण की बात हुई कि जो सच्चाई है दुख की, उसे स्वीकार करने के साथ-साथ यह भी स्वीकार कर रहे हैं कि दुख तो है, पर दुख से बाहर निकलने का रास्ता भी है। इस सच्चाई में कितनी आशा भरी हुई है। सारा जीवन आशा से भर जाए। निराशा का नाम न रहे। धर्म में आशा, जरा भी निराशा नहीं। संपूर्ण दुख-विमुक्ति का रास्ता जो मिल गया, और रास्ता भी ऐसा कि तत्काल फलदायी। इस पर एक-एक कदम चलकर देखें कि किस प्रकार दुख के बाहर आ रहे हैं। जितना अभ्यास करते हैं, उतना मैल छूटता जा रहा है, उतना भार उतरता जा रहा है। इसी जीवन में जब इसका प्रभाव आने लगेगा, कितनी आशा जागेगी! आँचल बहुत मैला है। उसे देखकर रोएँगे नहीं। साबुन जो मिल गई। साबुन को इस्तेमाल करना भी आ गया। अब साबुन इस्तेमाल करेंगे। निराशा कहाँ?

एक बात ठीक तरह से समझ लेनी होगी कि अपने दुखों के लिए हम स्वयं जिम्मेदार हैं, अन्य कोई नहीं। हम स्वयं ही अपने पागलपन में, नादानी में, अज्ञान अवस्था में, अपने भीतर मैल-पर-मैल इकट्ठा करते रहते हैं और परिणामतः व्याकुल होते रहते हैं। इस मैल को हमने चढ़ाया है, हमें ही निकालना होगा। दूसरा कोई क्या करेगा? दूसरा तो बड़े प्यार से रास्ता बता सकता है। रास्ते पर चलना तो हमें ही पड़ेगा। इसीलिए अंतर्मुखी हो रहे हैं, स्व-मुखी हो रहे हैं। पराङ्गमुखी तो बहुत रहे, बहिर्मुखी तो बहुत रहे, अब स्वमुखी होकर प्रज्ञा जगाना है।

ठीक तरह से समझें कि प्रज्ञा क्या है? उन दिनों की भाषा में प्रज्ञा का अर्थ होता था ''पकारेन जानेति ति पञ्ञा'', नाना प्रकार से जानना प्रज्ञा है। अनेकानेक

दृष्टि से देखना प्रज्ञा है। एकांगी दृष्टि से किसी भी व्यक्ति-वस्तु को, घटना-स्थिति को देखते हैं तो आंशिक दर्शन मिथ्या दर्शन है, भ्रामक है। अनेकांत दृष्टि से देखने लगें, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से उसी बात को देखने लगें तो सर्वांगीण दर्शन होने लगे। संपूर्ण दर्शन होने लगे। बात ठीक-ठीक समझ में आ जाए, प्रज्ञा इसीलिए है कि अनेकांत दृष्टि से देखें, एकांत दृष्टि से नहीं। जिसको सर्वांगीण दर्शन होने लगा, बात ठीक-ठीक समझ में आने लगी, उसका हर कदम ठीक होगा। हर काम ठीक होगा, हर निर्णय ठीक होगा। जब अपने भीतर संवेदना को देखते हैं तो एक और दृष्टि जागती है। भीतर देखने की दृष्टि जागती है। ''विमूढ़ानानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः,'' यह है ज्ञान-चक्षु से अपने भीतर देखने की प्रज्ञा।

बाहर कोई घटना घटी, किसी ने गाली दी, अपमान किया, कोई अनचाही बात हो गई कि प्रतिक्रिया होने लगी भीतर-ही-भीतर। आग-सी जलने लगी। दुख का कारण भी भीतर दीखने लगा, दुख का निवारण भी भीतर दीखने लगा। एकदम दीखने लगेगा। साधना में जैसे-जैसे आगे बढ़ेंगे और भी अनेक दृष्टियों से देखने लगेंगे। यदि किसी ने अपमान किया तो आज तो यही कहते हैं कि शत-प्रतिशत वह व्यक्ति जिम्मेदार है। जब विपश्यना में पकने लगेंगे तो यह कहने लगेंगे कि यह जो मुझे दुख हुआ, किसी के अपमान करने से दुख हुआ तो आधा वह व्यक्ति जिम्मेवार है और आधा जिम्मेवार मैं हूँ। और आगे बढ़ेंगे तो यह स्पष्ट होगा कि मेरे सुख या दुख का शत-प्रतिशत मैं ही जिम्मेवार हूँ और कोई नहीं। यह बात तर्क-वितर्क से समझ में नहीं आती। जब अंतर्मुखी होकर अपने-आपको देखने लगेंगे तो मालूम होगा दुख कहाँ शुरू होता है? कैसे शुरू होता है? कैसे बढ़ता है? संवेदनाओं से जानने लगेंगे। शरीर में विभिन्न प्रकार की संवेदनाएँ होती हैं। संवेदनाएँ देखकर हम भीतर की सच्चाइयाँ जानने लगेंगे। जैसे-जैसे साधना में पुष्ट होते जाएँगे, तुरंत मालूम होगा कि भीतर विकार जागते ही व्याकुलता आती है। सामने व्यक्ति के मन में यदि विकार जागा है, क्रोध जागा है तो उसकी व्याकुलता भी मालूम होने लगेगी। एक समय तो ऐसा भी आएगा साधक के जीवन में, जबकि वह अन्य व्यक्तियों की संवेदनाओं को भी महसूस करने लगेगा। ठीक वैसे ही जैसे कि अपनी संवेदनाएँ महसूस करता

है। जब किसी गाली देनेवाले क्रुद्ध व्यक्ति के भीतर की तपन स्वयं महसूस करने लगेगा तो कैसे उस व्याकुल व्यक्ति की ओर अंगारे फेंकेगा? उस पर तो शीत जल ही डालेगा।

इस देश में मानस के बड़े-बड़े धनवंतरि हुए। उन्होंने अंतर्मन की खूब खोज की। भीतरी सत्य का बहुत शोध हुआ, अनुसंधान हुआ। जब अंतर्मुखी होकर सच्चाई को देखने लगे तो मालूम हुआ कि जब-जब चित्त विकारों से विकृत होता है, तब-तब व्याकुलता आती है। जब क्रोध आता है तो अपने साथ दुख ही लेकर आता है।

अनुसंधान करते-करते एक सीमा तक पहुँचे तो एक रास्ता मिला— जब-जब विकार जागे तब-तब चित्त को किसी दूसरे काम में लगा दें। जिसके प्रति श्रद्धा है उसका नाम जपने लगें, उसका ध्यान करने लगें। तो मन को एक अन्य ओर मोड़ दिया। इससे लाभ हुआ। रोग को खोजा और रोगी की औषधि भी खोजी। पर पूरा लाभ नहीं हुआ। लेकिन इस देश में ऐसे भी महापुरुष हुए जिन्होंने यह खोज यहीं समाप्त नहीं की। वे अंतर्मन की और गहराइयों में उतरे और पाया कि केवल चेतन चित्त को किसी अन्य ओर लगाने से पूरा लाभ नहीं होता। यह सारा अचेतन और अर्धचेतन मन तो भीतर-ही-भीतर गाँठें बाधता ही रहता है। अंतर्मन की गहराइयों में जहाँ विकार गहरा चला गया, वहाँ ग्रन्थि-पर-ग्रंथि बँधती ही जा रही है। अंतर्मन की खोज करते-करते सारे शरीर स्कंध को देख लिया। सारे चित्त स्कंधों को देख लिया और इन दिनों का अतिक्रमण कर इनके परे की जो अवस्था है, जो नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, उसे भी देख लिया। इस प्रकार स्वयं अनुभूति द्वारा परम सत्य को जान लिया तो प्रकृति का सारा रहस्य समझ में आ गया। उन्होंने बतलाया कि जीवन की कठिनाइयों से भागो मत, अभिमुख होकर उनका सामना करो। क्रोध आया तो क्रोध को देखो, भय आया तो भय को देखो। इस प्रकार यदि देखना आ गया तो इन विकारों का शमन होने लगेगा। ''उपज्जित्वा निरुज्झन्ति तेसं वूपसमो सुखो।'' उदय हुआ, नष्ट हुआ एकदम शमन हो गया। मिलने लगा सुख।

लेकिन एक बड़ी समस्या फिर रह गई। क्रोध को कैसे देखा जाए? विकार को कैसे देखा जाए? जब क्रोध आता है तो होश ही नहीं रहता। क्रोध

को देखें कैसे? कभी यह होश भी आ जाए कि क्रोध आया है और उसे देखना है। परंतु जब देखने का प्रयत्न किया जाए तो यही होगा कि जिस घटना को लेकर क्रोध आया है, जिस व्यक्ति या वस्तु के कारण क्रोध पैदा हुआ, उसी का बार-बार स्मरण होगा। वह आलंबन उद्दीपन का काम करेगा। सही माने में क्रोध तब ही देखा जा सकेगा, जब उसका आलंबन काट दिया जाए। पर अमूर्त क्रोध, अमूर्त वासना को कैसे देखें? तो उन महापुरुषों ने एक और रास्ता खोजा। धर्म बुद्धि-विलास के लिए थोड़े है? अनुभूतियों से जाना गया धर्म ही वास्तव में धर्म है।

अनुभूतियों के स्तर पर सत्य के दर्शन करते हुए एक महत्त्वपूर्ण बात और देखी गई। जब-जब चित्त पर कोई विकार जागता है तो शरीर के स्तर पर दो घटनाएँ तत्क्षण घटनी शुरू हो जाती हैं। बहुत स्थूल स्तर पर साँस अपनी स्वाभाविकता खो देता है। अस्वाभाविक हो जाता है और सूक्ष्म स्तर पर सारे शरीर में कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई जीव-रासायनिक प्रतिक्रिया तीव्र रूप से शुरू हो जाती है। कोई संवेदना शुरू हो जाती है। हो ही जाती है। क्रोध आया तो सारे शरीर में गर्मी आनी शुरू होगी। वासना जागी तो स्पंदन शुरू होगा। भय जागा तो कंपन शुरू होगा। प्रकृति का यह नियम है। यह चित्त-धारा और शरीर-धारा अलग नहीं है। दोनों की यानी 'नाम-रूप' की यह धारा, जीवन की यह धारा, एक साथ चलती है। अन्योन्याश्रित है। एक-दूसरे का, एक-दूसरे पर प्रतिक्षण प्रभाव पड़ता रहता है। इसलिए उन्हें सहज कहा गया। सहजात कहा गया। एक साथ उत्पन्न होते हैं। जहाँ चित्त में विकार उत्पन्न हुआ, साथ-साथ शरीर में संवेदना उत्पन्न हुई। अमूर्त विकार का साक्षात्कार करके देखना साधारण व्यक्ति के लिए आसान नहीं है। पर धर्म तो साधारण व्यक्ति के लिए है। अतः साधारण व्यक्ति के लिए रास्ता दिया गया कि विकार के कारण इस शरीर में जो कुछ भी हो रहा है, उसे देखें। साँस को देखना शुरू करें। साँस देखते-देखते संवेदनाओं को देखना शुरू करें। उत्पन्न विकार को देखने का काम अपने-आप शुरू हो जाएगा।

रोज-रोज विपश्यना के अभ्यास से इतना पक जाएँगे कि ज्यों ही कुछ हुआ, साँस में जरा भी अस्वाभाविकता आई, चेतावनी मिल गई। तुरंत साँस को देखने लगेंगे। संवेदना जागी, तुरंत संवेदना को देखने लगेंगे। विकार का

अवलंबन कोई भी हो—क्रोध हो, वासना हो या और कुछ, एकदम क्षीण होने लगेगा। साँस और संवेदना देखेंगे तो ब्राह्य कारण को इतना महत्त्व नहीं देंगे। क्रोध आया तो संवेदना ही देखी। क्रोध क्षीण होता चला जाएगा। न दमन किया, न खुली छूट दी। दमन और छूट से बचने के लिए मध्यम मार्ग अपनाया। केवल देखो! विपश्यना करो!

जब अंतर्मुखी होकर देखने का काम शुरू करेंगे तो जीवन जीने का रास्ता मिल जाएगा। जब-जब जीवन में कोई घटना घटेगी और हमें व्याकुल करेगी तो एकदम साँस को देखने लगेंगे, संवेदनाओं को देखने लगेंगे। घटना का प्रभाव नहीं होगा। अंध प्रतिक्रिया नहीं करेंगे। यदि अंध प्रतिक्रिया हो भी गई तो लंबे अर्से तक नहीं चलेगी। ज्यों-ज्यों साधना में पकने लगेंगे, विकारभरी व्याकुलता का समय कम होने लगेगा। साधना की सफलता का यही मापदंड होगा। समय तो लगेगा ही। स्वभाव को पलटने में, सुधारने में समय तो चाहिए ही। धीरे-धीरे खूब समझ में आने लगेगा कि हमारे दुख का कारण बाहर के व्यक्तियों में, वस्तुओं में, घटनाओं में नहीं है। भीतर ही है। उसे दूर करना है।

ज्यों-ज्यों अंतर्मुखी होकर साधना में पुष्ट होते जाएँगे, चित्त-धारा के चार चेतना-खंडों की प्रक्रिया अच्छी तरह से समझने लगेंगे। जो विज्ञान खंड है, वह तो केवल जानने का काम करता है। जो संज्ञा है वही धोखा देती है, पूर्व संस्कारों से प्रभावित होती है। अतः सही रूप से पहचानने में भूल करती है। जैसी पहचान होती है, वैसी ही वेदना होती है और फिर वैसी ही प्रतिक्रिया होती है। यह संज्ञा जैसी छाप बनाएगी, वैसी ही प्रतिक्रिया होगी। यह भी ठीक तरह से स्पष्ट होने लगेगा कि संज्ञा का निर्माण हम ही कर रहे हैं। इसमें दूसरा व्यक्ति क्या करेगा? यह बात प्रवचनों से समझ में नहीं आएगी। बुद्धि-विलास से समझ में नहीं आएगी। जितने-जितने अनुभव में पकेंगे, भीतर से संवेदना को देखने के अनुभव में पकेंगे, हर संवेदना गहरी सच्चाई की ओर ले जाएगी। संवेदना के मूल कारण की ओर ले जाएगी। किसी अमुक संवेदना से आनंद हुआ, सुख हुआ, दुख हुआ। यह क्यों हुआ? एकदम समझ में आ जाएगा। जहाँ संवेदना को साक्षीभाव से देखने लगेंगे, सारी बातें उभरकर सामने आने लगेंगी। पता लगेगा कि कारण तो इस 'मैं-मेरे' में है। इस

'ममभाव' में, इस 'अहंभाव' में है। इस 'मैं' के साथ हुई गहरी आसक्ति में है। जो-जो संबंध किसी व्यक्ति के साथ-साथ जुड़ता है, वह 'मैं' और 'मेरे' तथा 'मेरे सपनों' को लेकर ही जुड़ता है। यदि कोई व्यक्ति बहुत प्यारा लगता है तो इसलिए लगता है कि वह मेरे सपनों में सहायक है। जरा-सा पता लगे कि वह व्यक्ति मेरे सपनों के पूरा होने में बाधक है तो कितना ही प्यारा क्यों न हो, सारा प्यार समाप्त हो जाता है। जिसे हम अपना कहते हैं, स्वजन कहते हैं, जिनके प्रति खूब प्यार उमड़ता लगता है, वस्तुतः वह प्यार उस व्यक्ति के प्रति नहीं, अपने सपनों के प्रति है। अपने-आपके प्रति प्यार है, अपनी कामनाओं के प्रति प्यार है। यह बात अनुभूति से जब संवेदनाओं को देखेंगे तो खूब समझ में आने लगेगी। यह बात जितनी-जितनी समझ में आने लगेगी, विपश्यना में पकते चले जाएँगे। समझेंगे स्वप्न लेना उतनी बुरी बात नहीं है, परंतु स्वप्नों के साथ चिपक जाना बहुत बुरा है, बहुत व्याकुलता लाता है। सारी बातें जब अंतर्मुखी होकर समझने लगेंगे तो जीवन के व्यवहार में सुधार आएगी ही।

जीवन में धर्म का प्रभाव आना ही चाहिए। आ रहा है तो काम की बात है। अन्यथा धोखा है। लोगों के साथ मेरा व्यवहार सुधर रहा है या नहीं? साधना की सफलता का यही मापदंड है। यदि कोई व्यक्ति हमारे साथ दुर्व्यवहार करेगा तो प्रतीत होगा कि बेचारा अंदर से कितना दुखी है, तप्त है। उसके प्रति क्रोध नहीं जागेगा। घृणा नहीं जागेगी। उसके प्रति मैत्री जागने लगेगी। करुणा जागने लगेगी।

जीवन में बहुत बार ऐसी स्थिति आएगी, जब कड़ाई से काम करना पड़ेगा। लेकिन भीतर कटुता नहीं जागने देंगे। भीतर तो प्यार और करुणा ही होगी। जीवन में आवश्यकता पड़ने पर अन्याय का सामना करना होगा। धर्म का बड़ा बल होता है। धर्म कायरता नहीं सिखाता, परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता देता है। लेकिन अन्याय का सामना करते समय व्याकुलता नहीं होगी। अन्यायी के प्रति क्रोध नहीं होगा। प्यार होगा, करुणा होगी। यदि कोई नम्र भाषा में समझता ही नहीं है तो कठोर भाषा का व्यवहार भी जीवन में करना पड़ेगा। लेकिन ऐसी परिस्थितियों में, जब कठोर व्यवहार करना पड़े, मन में करुणा ही होगी। ठीक उसी प्रकार जैसे माँ के हृदय में अपने

बच्चे के प्रति करुणा होती है और बच्चे को गलती से रोकने के लिए माँ उसके प्रति कठोरता का व्यवहार भी करती है। यदि रोगी बच्चा सन्निपात में आकर माँ को गाली दे तो मां के हृदय में असीम प्यार ही उमड़ता है, करुणा ही उमड़ती है। हमारा व्यवहार भी इसी प्रकार करुणामय होगा। हमारे सारे व्यवहार का आधार प्यार और करुणा होगी।

चर्चा-ही-चर्चा करे, धारण करे न कोय।
धर्म बिचारा क्या करे? धारे ही सुख होय॥
शब्द बिचारा क्या करे? अर्थ न समझे कोय।
अर्थ बिचारा क्या करे? धारण करे न कोय॥
शुद्ध धरम का शांति पथ, संप्रदाय से दूर।
शुद्ध धरम की साधना, मंगल से भरपूर॥

धरम जगे तो सुख जगे, सब विधि मंगल होय।
अंतर की गाँठें खुलें, मानस निर्मल होय॥
धरम हमारा बंधु है, सखा, सहायक मीत।
चले धरम की रीत ही, रहे धरम से प्रीत॥

सुख आए नाचे नहीं, दुख आए नहिं रोय।
दोनों में समता रहे, तो ही मंगल होय॥

दसवाँ दिन

हमारी साधना का दसवाँ दिन पूरा हुआ। इन दस दिनों में इस कल्याणकारी साधना के जितने कदम उठाए, फिलहाल वही बहुत हैं। इससे इस विधि की एक रूपरेखा सामने आई।

इसके आगे भी कुछ कदम और हैं। उन पर अभी चर्चा नहीं करेंगे। उनसे संबंध रखनेवाले सिद्धांतों पर भी चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि सिद्धांत और अभ्यास साथ-साथ कदम मिलाकर चलने चाहिए।

आज की धर्म-चर्चा में जो दस दिन में सीखा है, उस पर एक बार फिर दृष्टि डालकर देखेंगे। इस विधि की अपनी एक विशेषता है। इस मार्ग का अपना एक अनूठापन है। इस विशेषता को समझते रहेंगे तो इसकी शुद्धता कायम रखेंगे। विशेषता की बात ही समझ में नहीं आएगी तो सम्मिश्रण करने लगेंगे। सम्मिश्रण करने लगेंगे तो जो लाभ मिलना चाहिए वह नहीं मिलेगा।

भगवान ने एक जगह कहा कि दो प्रकार के मनुष्य मिलने बड़े दुर्लभ होते हैं—एक तो वह, जो बदले में कुछ पाने की जरा-सी भी भावना न रखते हुए औरों की सेवा करनेवाला हो और दूसरा जो कृतज्ञ हो। जिस महापुरुष ने यह खोई हुई विद्या खोज निकाली, यद्यपि उसे इस बात की जरा भी इच्छा नहीं रही कि लोग उसके नाम की पूजा करें, लोग उसका यश गाएँ, लेकिन हमें जो यह विधि प्राप्त हुई, उसके पच्चीस सौ वर्ष पूर्व के महाकारुणिक उपदेशक भगवान गौतम बुद्ध और उनके बाद ही आचार्य परंपरा के जिन लोगों ने इस विधि को सदियों तक संभालकर रखा, उन सबके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव जगाना एक मानवीय गुण है; धर्म का बहुत बड़ा गुण है।

काम शुरू करते ही तीन रत्नों की शरण ली थी। बुद्ध की शरण यानी सिद्धार्थ गौतम जो बुद्ध हो गया, उसके प्रति श्रद्धा के भाव व्यक्त हों, कृतज्ञता के भाव व्यक्त हों, यह स्वाभाविक है। लेकिन जहाँ तक शरण का सवाल है, शरण गौतम के प्रति नहीं है। बुद्ध बोधि का प्रतीक है। बुद्ध कोई भी हो सकता है। उस महापुरुष के प्रति हमारे मन में श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव पनपे, बढ़े, यह एक बात है, लेकिन शरण तो बोधि की ही लेनी है। हमारे भीतर जो अपनी बोधि का बीज है, उसी को लेनी है। उसी को हमें विकसित

करना है। जीवन भर बोधि की शरण में ही जिएँ। जो काम करें, बोधिपूर्वक करें, समझदारी से करें। काया का काम, वाणी का काम, बोधि के साथ करें। अपनी बोधि जगाते-जगाते हम भी मुक्त हो जाएँ, शुद्ध हो जाएँ, बुद्ध हो जाएँ। इस अर्थ में बुद्ध की शरण ग्रहण की।

फिर धर्म की शरण ग्रहण की। धर्म की शरण ग्रहण करना किसी संप्रदाय की शरण करना नहीं है। धर्म का संप्रदाय से कोई लेन-देन नहीं होता। जो व्यक्ति सम्यक् संबुद्ध हो जाता है, जिसे सचमुच बोधि प्राप्त हो जाती है, वह सुचमुच मुक्त हो जाता है। वह कोई संप्रदाय खड़ा नहीं करता। सारे जीवन भर वह महापुरुष भी यही चेतावनी देता रहा कि कहीं मनुष्य धर्म के नाम पर धर्म को ही न भुला दे। धर्म के सार को न खो बैठे। जो-जो व्यक्ति बोधि प्राप्त कर मुक्त हुआ, उसने शुद्ध धर्म ही दिया। किसी संप्रदाय का धर्म नहीं दिया। शुद्ध धर्म तो सबका है, सार्वजनीन है। धर्म तभी शुद्ध होता है, जब उसमें सांप्रदायिकता की सीमा नहीं होती—जाति की भी नहीं, वर्ग की भी नहीं। धर्म सबके लिए कल्याणकारी होता है। धर्म की शरण लेने का अर्थ यही है कि मैं धर्म का जीवन जीऊँगा। धर्म के रास्ते चलूँगा।

और फिर संघ की शरण यानी उन व्यक्तियों के चले हुए मार्ग का अनुसरण करना, जिन्होंने शुद्ध धर्म को धारण कर, संत अवस्था प्राप्त कर ली, आर्य अवस्था प्राप्त कर ली, चाहे वे गृहस्थ हों या संन्यासी, काले हों या गोरे या भूरे, इस देश के हों या उस देश के। किसी भी जाति या संप्रदाय के हों, कोई अंतर नहीं पड़ता। उनसे प्रेरणा प्राप्त होता है। इस माने में संघ की शरण ग्रहण की, ताकि हम भी संत अवस्था को प्राप्त हों।

फिर पाँच शील लिए। इनका अर्थ भी ठीक तरह से समझें। किसी ने पाँच शील लिए इसलिए बौद्ध नहीं हो गया। परंपराजन्य शब्दों के प्रति हमारा बड़ा चिपकाव है। अमुक शब्द इस परंपरावालों के लिए, अमुक शब्द उस परंपरावालों के लिए, चिपकाव का कारण बन गए। हमारे लिए शब्द ब्रह्म हो गया। 'पंचशील कहें' तो बौद्धों को, 'अणुव्रत' कहें तो जैनियों को, 'यम-नियम' कहें तो हिंदुओं को, 'टेन कमान्डमेंट्स' कहें तो ईसाइयों को बहुत प्रिय लगे। महज शब्दों के इस्तेमाल से क्या होगा? मूल बात तो यह है कि इन शब्दों से व्यक्त गुण जीवन में उतरे। ये जो पाँच शील लिए उनका पालन धर्म

के मार्ग पर चलने के लिए नितांत आवश्यक है। ये अधारशिलाएँ हैं। कोई अपने आपको बौद्ध कहे, जैन कहे, हिंदू कहे या और कुछ, कोई अंतर नहीं पड़ता।

शील पालन करना इसलिए आवश्यक है कि हम एक ऐसे कार्य में लगे हैं जो हमारे अंतर्मन की गहराइयों की खोज का कार्य है, अनुसंधान का कार्य है। यदि हम पाँच शील का पालन नहीं करेंगे तो हमारी समाधि सम्यक् नहीं होगी और यदि समाधि सम्यक् नहीं हुई तो प्रज्ञा नहीं जाग पाएगी। और प्रज्ञा नहीं जागेगी तो हम विमुक्ति का साक्षात्कार नहीं कर पाएँगे। हमारा अंतिम लक्ष्य इंद्रियातीत अवस्था का साक्षात्कार कर लेना है, भीतर की सारी गाँठों का खोल देना है, सारे बंधनों को तोड़ देना है। इस 'मैं' के बारे में जो सच्चाई है उसका अनुसंधान करना है। अपने शरीर स्कंध के बारे में, चित्त स्कंध के बारे में जानना है, खोज करना है। खोज करना बहुत आसान नहीं होता, कठिन काम है। किसी सच्चाई को भक्ति भावावेश में मान लेना बहुत सरल है। पर किसी सच्चाई को अनुभूतियों के स्तर पर मान लेना यानी जानकर मान लेना कठिन काम है। कुछ अनित्य है तो उसके मुकाबले में नित्य भी अवश्य है। वह नित्य क्या है? केवल मान लेने से हमें क्या मिला? अमृत तो चखा ही नहीं, उस नित्य का स्वाद तो चखा ही नहीं। तो सारी खोज, उस नित्य की खोज, उस परम सत्य की खोज, साक्षात्कार के स्तर पर यानी प्रत्यक्ष अनुभूति के स्तर पर करनी होगी।

जब-जब आदमी अपना शील भंग करता है, सदाचार भंग करता है, अनाचार, दुराचार, हिंसा, चोरी-व्यभिचार करता है, असत्य भाषण बोलता है तो क्या करता है? उसका मन व्याकुल होता है, व्यग्र होता है। मानसून के मौसम में समुद्र में जैसी तूफानी तरंगें उठती हैं, ऐसी ही तूफानी तरंगें उनके मन में उठती हैं। ऐसी हालत में अंतर्मन में खोज का कार्य कैसे होगा? इसीलिए साधना के इन दस दिनों शील-सदाचार का कड़ाई से पालन करते हैं ताकि अंतर्मन की गहराई तक सत्य की खोज कर सकें। इसलिए शील परम आवश्यक है। यही इस साधना की बुनियाद है।

फिर समर्पण किया। पूरी तरह आत्म-समर्पण। आत्म-समर्पण इसलिए नहीं कराया कि गुरु महाराज ने जो कुछ कह दिया, अंधविश्वास द्वारा आँख

बंद करके उसे मानना ही पड़ेगा। इस विधि में अंधविश्वास का कहीं स्थान नहीं। सारा साधना सत्य के आधार पर चलती है। लेकिन साथ-साथ यह भी नहीं कि दस दिन तक तर्क-वितर्क ही होता रहे। इस तर्क-वितर्क से बचें। एक मुमुक्षु की तरह, एक जिज्ञासु की तरह, बात पूछनी बहुत आवश्यक है। उसमें संकोच नहीं करना है। मन में जो शंका उठे, उसे दूर कर लेना चाहिए। लेकिन दस दिन तक अच्छी तरह समझकर समर्पण भाव से, जैसे बताया जावे, वैसे काम करें। दस दिन तक इस विधि को पूरा इंसाफ देकर देखें। दस दिन के बाद सब अपने मालिक हैं।

जक काम शुरू किया तो किस तरह काम शुरू किया, उसे समझें। विधि को समझें। सबसे पहले साँस को देखने लगे, साँस के साथ कोई शब्द नहीं जुड़ने दिया, कोई रूप नहीं जुड़ने दिया। नाम का अपना महत्त्व होता है। बार-बार एकनाम को दोहारते जाएँगे तो मन एकाग्र होने ही लगेगा। रूप का अपना महत्त्व होता है। जिस रूप के प्रति हमारे मन में बहुत श्रद्धा है, बार-बार उस रूप की कल्पना मन में करेंगे तो मन एकाग्र होने ही लगेगा। लेकिन नाम और रूप—दोनों को इसलिए दूर रखा गया कि इस मार्ग में चित्त को एकाग्र करने का अपना एक कारण है, लक्ष्य है। लक्ष्य यह है कि अपने भीतर जो स्वाभाविक तरंगें हैं, उनकी जाँच करना है, उनका अनुसंधान करना है, उनके बारे में जानना है।

यदि हमने कोई शब्द इस्तेमाल करना शुरू कर दिया और बार-बार उसी शब्द को दोहराना शुरू कर दिया तो उसका अपना प्रभाव होगा। हर शब्द की अपनी एक विशेषता है। शब्द एक टंकार पैदा करता है, एक तरंग पैदा करता है। जो बीज मंत्र है, उसकी अपनी तरंग है। शब्दों द्वारा जो तरंग पैदा करेंगे, उसी में एकदम समाहित हो जाएँगे। उन तरंगों को खूब देख पाएँगे। पर इस प्रक्रिया से अपनी नैसर्गिक तरंगों को देखने से वंचित रह जाएँगे। जब क्रोध आता है, जब वासना जागती है, जब ईर्ष्या जागती है, तो भीतर क्या होता है? उसे देखने से वंचित रह जाएँगे।

हमारा लक्ष्य केवल चित्त की एकाग्रता नहीं है, केवल समाधि नहीं है—लक्ष्य है सम्यक् समाधि, जिसका आधार न राग हो, न द्वेष, न मोह। इसीलिए काल्पनिक रूप का ध्यान नहीं। जहाँ कल्पना आई कि मोह का आधार हो ही

गया। जहाँ कृत्रिम बात पैदा कर उसे देखने लगे तो मोह का आधार हो ही गया। हमें नैसर्गिक साँस का दर्शन करना है, जो है, जैसा भी साँस है, उसे ही देखना है। साँस को देखते-देखते साँस का स्पर्श देखने लगे और आगे बढ़े तो सारे शरीर में होनेवाली संवेदनाओं को देखने लगे।

संवेदनाओं को देखने से क्या मिला? वस्तुत: हमें जानना यह है कि हमारे लिए जीवन में कठिनाइयाँ कैसे पैदा होती हैं? हमें जानना यह है कि जीवन-जगत की इन कठिनाइयों से कैसे निकल सकते हैं। जानना यह है कि अपने मन पर कैसे मैल चढ़ाने लगते हैं, कैसे गाँठें बाँधने लगते हैं? जानना यह है कि वह मैल कैसे पैदा न करें? गाँठें कैसे न बाँधें; बल्कि जो बँधी हैं वे कैसे खुलें? उस महापुरुष ने गहराइयों में जाकर यही तो देखा और बार-बार यह समझाया कि विषयों में रहनेवाला व्यक्ति बड़ा दुखी रहता है। इंद्रियों के विषय हमें बाँधनेवाले होते हैं। ऐंद्रिय विषयों के प्रति आसक्त रहनेवाला व्यक्ति भला मुक्ति के रास्ते कैसे जाएगा? वह तो और उलझता ही जाएगा। लेकिन जहाँ परम सत्य की ओर जाएँ, सूक्ष्म सत्य की ओर जाएँ वहाँ एक बात समझ में आएगी कि इंद्रिय और विषय के संपर्क होने पर विषय में डूबने की जो बात होती है, उसके पहले एक घटना और घटती है। उन दोनों के बीच की एक कड़ी और है। केवल विषयों से कोई हानि नहीं होती, हानि होती है विकारों से। विषय हमारा क्या लेते हैं? शब्द अपनी जगह है, रूप अपनी जगह है, गंध अपनी जगह है, स्पर्श अपनी जगह है, रस अपनी जगह है और चिंतन अपनी जगह है। उनकी वजह से विकार नहीं जागता। विकार जागता है इंद्रिय और विषय के संपर्क से; जो संवेदना हुई और जो मूल्यांकन हुआ, राग उस पर जागता है, द्वेष उस पर जागता है। यह सचमुच में बड़ी खोज हुई। बड़ा रहस्य खोल लिया उस व्यक्ति ने कि जो संवेदना को जानता है, वही जानेगा कि राग कहाँ पैदा होता है, द्वेष कहाँ पैदा होता है?

संवेदनाओं के देखने के अभ्यास में एक बात और समझ लेनी है। जब-जब इंद्रियों का विषयों से स्पर्श होता है, त्वरित गति से मूल्यांकन होकर संवेदना होने लगती है। और जिस समय स्पर्शजन्य, संवेदना होती है, उस समय होश नहीं रहे तो हम राग या द्वेष जगाने ही लगते हैं। ऐसा स्वभाव बन गया है। विषय तो कायम रहेंगे ही, इंद्रियों का विषयों के साथ संपर्क भी होगा

ही, लेकिन उसकी वजह से जो विकार जागता है, उस पर रोक लगानी है। रोक जहाँ संवेदना जगती है, वहाँ लगानी होगी। हर संवेदना के प्रति राग-विहीन रहना है, द्वेष-विहीन रहना है। ''वेदना पच्चया तण्हा'' हर वेदना के साथ जो तृष्णा जागती थी, राग की तृष्णा—द्वेष की तृष्णा—अब उसकी जगह ''वेदना पच्चया पञ्ञा'' हर वेदना के साथ प्रज्ञा ही जागेगी, बोधि ही जागेगी। इससे नई गाँठें नहीं बँधेंगी। पुरानी खुलने लगेंगी। सारी खुलने में समय लगेगा। लेकिन सही मार्ग मिल गया, सही विधि मिल गई। काम शुरू हो गया।

काम तो खुद ही करना पड़ेगा। गाँठें स्वयं ने बाँधी हैं। अत: स्वयं को ही खोलनी पड़ेंगी। इस खोलने के काम में प्रकृति खूब मदद करेगी। ऋतु खूब मदद करेगी। अपने भीतर के अहंभाव को, अहंकार को निकालना पड़ेगा। यही 'अनात्म' है। दार्शनिकों के विवादवाला आत्मवाद या अनात्मवाद नहीं। उसे एक तरफ रखें। जहाँ 'मैं' नहीं 'मेरा' नहीं। अहंकार का नामो-निशान नहीं, ममकार का नामो-निशान नहीं। न हीन भावना है, न अहं भावना। मध्यम मार्ग पर चलना है। अपने-आप बंधन खुलने लगेंगे।

दस दिनों की साधना में जो कुछ किया उसे ऐसा क्यों किया, यह समझते रहेंगे तो कहीं उलझेंगे नहीं। दार्शनिक मान्यताओं के विवाद में नहीं पड़ना है। लाभ तो विधि के अभ्यास से मिलनेवाला है। जहाँ तक विधि का सवाल है, उसे किसी अन्य साधना-विधि से मिश्रित नहीं करना है। इस रास्ते चलकर सचमुच लाभ लेना है तो इस विधि को शुद्ध रूप में कायम रखना ही पड़ेगा।

इस दुखियारे जगत में, सुखिया दिखे न कोय।
शुद्ध धरम फिर से जगे, जन-जन सुखिया होय॥

धरती पर बहती रहे, धरम गंग की धार।
जन-जन का होवे भला, जन-जन का उपकार॥

धन्य भाग साबुन मिली, निरमल पाया नीर।
आओ धोएँ स्वयं ही, मन के मैले चीर॥

चल साधक न्हाने चलें, धरम गंग के तीर।
मैल चित्त का धोइहैं, निर्मल मिलिहैं नीर॥

निर्मल गंगा धरम की, सतत प्रवाहित होय।
शाप ताप सारे धुलें, निर्मल मिलिहैं नीर॥

अंतर में डुबकी लगी, भींग गए सब अंग।
धरम रंग ऐसा चढ़ा चढ़ें न दूजा रंग॥

दीक्षांत प्रवचन

एक-एक करके शिविर के दस दिन पूरे हुए। इस महान धर्म-यज्ञ की पूर्णाहुति का समय आया। काम शुरू करते समय हर साधक से पूर्णतया आत्म-समर्पण कराया गया। समर्पित भाव हो तो ही काम अच्छा होता है। पूरा लाभ मिलता है। इसलिए समर्पण कराया गया। पर वह समर्पण दस दिनों के लिए था। समर्पण की अवधि पूरी हुई। अब हर व्यक्ति आजाद है। धर्म हमेशा स्वाधीन, स्वतंत्र बनाता है; पराधीन, परतंत्र नहीं।

अब अपने-अपने घर में जाकर शांतिपूर्वक चितंन-मनन करेंगे कि इन दस दिनों में क्या सीखा? जो सिखाया गया, क्या वह युक्ति-संगत है? न्याय-संगत है? तर्क-संगत है? बुद्धि-संगत है? लेकिन यही एकमात्र कसौटी नहीं है। बहुत-सी बातें, जो आज बुद्धि-संगत, तर्क-संगत लगती हैं, कुछ दिनों के बाद तर्क-हीन लग सकती हैं। बुद्धि की अपनी सीमाएँ हैं। तो एक और कसौटी से भी कसकर देखेंगे। क्या इसमें मेरा मंगल-कल्याण समाया हुआ है? लेकिन फिर एक कसौटी और रह जाती है—क्या इससे किसी अन्य प्राणी की हानि तो नहीं होती? क्या औरों का भी मंगल समाया हुआ है? जो बात इन तीनों कसौटियों पर खरी उतरती है यानी बुद्धिसंगत है, मेरे लिए मंगलकारी है और साथ-साथ औरों के लिए भी मंगलकारी है, तो समझदार आदमी इसे सहर्ष स्वीकार करता ही है। और सुचमुच समझदार आदमी हो तो केवल बौद्धिक स्तर पर अथवा केवल भावावेश के स्तर पर स्वीकार करके नहीं रह जाता; बल्कि वास्तविकता के, यथार्थता के स्तर पर स्वीकार करता है। यानी उसे धारणा करता है। उसे जीवन का अंग बनाता है। अब किसी के कहने से नहीं, किसी के दबाव से नहीं, बल्कि स्वेच्छा से आत्म-समर्पण करता है। किसी व्यक्ति को नहीं; बल्कि धर्म को आत्म-समर्पण करता है। किसी अवधि तक नहीं; बल्कि जीवन भर के लिए आत्म-समर्पण करता है। ''जीवित परियंतं धम्मं सरणं गच्छामि'' जीवन भर के लिए धर्म की शरण आ गया हूँ। अब तो यथाशक्ति सारा जीवन धर्म का ही जीवन जिएगा, मंगल का ही जीवन जिएगा। अपना भी मंगल साधेगा, औरों का भी मंगल साधेगा।

दस दिन स्वयं अनुभव करके देख लिया कि विद्या काम की है। परंतु यह तो प्रारंभ मात्र है। रास्ता लंबा है। दस दिन में तो केवल एक रूप-रेखा

मात्र मिलता है। सारे जीवन भर का काम है। सारा जीवन कैसे जिएँ? शांतिपूर्वक, सुखपूर्वक, जिसमें हमारा भी मंगल सधे, औरों का भी मंगल सधे? यही धर्म का व्यावहारिक पक्ष है, जो व्यवहार में उतरे, वही व्यावहारिक। जो सिद्धांतों तक रह जाए, ऐसा सैद्धांतिक पक्ष हमारे काम का नहीं। उससे केवल प्रेरणा मिल सकती है, मार्ग-दर्शन मिल सकता है। बस और कुछ नहीं। लाभ व्यवहार से ही होता है।

यहाँ दस दिन तक इस धर्म-कारावास में बंदी बनकर आए और रहे। किसलिए? यही सीखने के लिए कि धर्म का व्यावहारिक पक्ष कैसे निभाया जा सकता है? शील का पालन करते हुए कैसे मन को वश में किया जा सकता है? मन की तल स्पर्शी गहराइयों तक जाकर कैसे जागते हुए राग अथवा द्वेष को देखकर उन्हें रोका जा सकता है? यही सीखने आए। दिन भर यही अभ्यास करते रहें। हर शाम की धर्म-चर्चा महज इस स्पष्टीकरण के लिए होती थी कि अभ्यास कैसे करें? लेकिन जहाँ धर्म-चर्चा होती है और धर्म के व्यावहारिक पक्ष को शब्दों में समझाया जाता है, वहाँ धर्म का सैद्धांतिक पक्ष उजागर होता ही है। अलग-अलग सैद्धांतिक विचारधाराओं और परंपराओं से आए हुए साधकों में से किसी को लगे कि अमुक बात हमारी परंपरागत मान्यताओं से मेल नहीं खाती तो भले उसे अलग रखें। सिद्धांत की जितनी-जितनी बातें ठीक लगें, अपनी मान्यताओं से मेल खाती लगें, उतनी-उतनी स्वीकार करें। भविष्य में जब कभी समझ में आ जाए तब स्वीकार लेना। इससे कुछ नहीं खोएँगे। मुख्य बात तो व्यावहारिक पक्ष की है।

व्यावहारिक पक्ष शील-सदाचार है, समाधि है—मन को वश में करना है, प्रज्ञा है—चित्त को रोग-विहीन, द्वेष-विहीन बनाने का काम है, निर्मल बनाने का काम है। उसे मैत्री, करुणा आदि सद्गुणों से भरने का काम है। इसमें भला कोई कैसे विरोध करेगा? ये जो तीन बातें हैं शील, समाधि और प्रज्ञा; बस, यही धर्म का सार है। इस दायरे के बाहर जो सिद्धांत की बात है, वह यदि समझ में न आए, स्वीकारी न जा सके, तो उसे छोड़ देने में बहुत हानि नहीं।

धर्म के सैद्धांतिक पक्ष की बात व्यावहारिक धर्म को पुष्ट करने के लिए ही कही जाती है। बड़े प्यार से कही जाती है, किसी विरोध-भाव से नहीं। पर

मुख्य बात व्यवहार की है, अभ्यास की है। शील धारण करने की है; समाधि में पुष्ट होने की है, प्रज्ञा द्वारा चित्त को निर्मल करने की है। इसमें विरोध के लिए कहीं स्थान नहीं ।

दस दिन के अभ्यास से इस विद्या की एक धूमिल-सी रूप-रेखा सामने आई। दस दिन में तो मानों किसी उपजाऊ धरती में बड़ा मूल्यवान बीज बोया गया। उपजाऊ धरती है। इसलिए यह मूल्यवान बीज फूटकर बाहर आ गया, अंकुरित-प्रस्फुटित हो गया।

अब यह जो नन्हा-सा धर्म का पौधा फूटकर बाहर आया है, कुशल माली की तरह उसकी खूब संभाल करनी है। समझदार माली नन्हें-से बिरवे की बहुत सेवा-सँभाल करता है। उसके चारों और बाड़ लगाता है। कोई गाय या बकरी न चर जाए। समय पर पानी देता है, समय पर धूप-छाँह। यों सेवा करते-करते जब वह पौधा बढ़कर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, गहरी जड़ोंवाला, मोटे तनेवाला, तब किसी की सेवा नहीं लेता। वह स्वयं अपनी देखभाल कर लेता है। प्रकृति से अपनी जरूरतें स्वयं पूरी कर लेता है; बल्कि बदले में सारे जीवन सेवा देता है। जो पैदा करता है, सो देता ही है। कितनी शीतल छाया, कितने सुंदर फूल, कितने मीठे फल। पहले जितनी सेवा ली, उससे कई गुना देने लगा।

यह धर्म का बिरवा भी ऐसा ही है। शुरू-शुरू में खूब सेवा-सुरक्षा चाहता है। इसके चारों ओर बाड़ नहीं लगाएँगे तो कोई गाय-बकरियाँ चर ही जाएँगी। यहाँ दस दिन रहते हैं तो बाड़ लगी रहती है। बाहर जाएँगे तो हो सकता है अपनी परंपरा का कोई व्यक्ति कहे, "अरे! कहाँ गए थे? उनकी मान्यताएँ तो हमारी परंपरा के बिल्कुल विपरीत। उनमें गए कि डूबे! अपनी परंपरा के तो ये सिद्धांत वो सिद्धांत"। फिर वही बुद्धि-विलास, वाद-विवाद, तर्क-वितर्क चला कि सारी साधना छूट गई। चर गई—बकरियाँ। बचाना है तो चारों ओर बाड़ लगा रखेंगे। कैसी बाड़? ऐसे अवसर पर यही उत्तर देंगे कि दार्शनिक सिद्धांतों की बात इस बाड़े के बाहर। यह तो व्यवहार का, अभ्यास का बिरवा है। शील, समाधि और प्रज्ञा का बिरवा है। इसमें कहीं झगड़ा नहीं है। इसी प्रकार बाड़ लगाकर सब झगड़ों को एक तरफ रखेंगे। बस बच गया बिरवा।

और फिर इस बिरवे को सुबह-शाम सींचना होगा। कैसे सीचेंगे? सुबह घंटे भर, शाम को घंटे भर ध्यान करना ही होगा। अन्यथा बिरवा सूख जाएगा। प्रारंभ में दो घंटे निकालने में कठिनाई मालूम होगी। लेकिन साधक शीघ्र देखेगा कि खूब समय मिलने लगा है। देखेगा कि रोजाना रात को जितनी देर सोया करता था, अब एक घंटे कम में ही नींद पूरी होने लगी। इतनी नींद की जरूरत नहीं। यों घंटा भर तो नींद में से ही आसानी से निकल जाएगा। फिर आलस और गप्पों में जो समय खराब करता था, वह बचने लगेगा। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति जिस काम, धंधे, रोजी, पेशे में है, वह देखेगा कि अब रोज सुबह-शाम विपश्यना करने की वजह से अपनी जिम्मेदारी ज्यादा अच्छी तरह और ज्यादा जल्दी पूरी करने लगा। जो काम आठ घंटे में पूरा करके थक जाता था, अब देखेगा कि वह सात ही घंटे में पूरा हो गया और स्फूर्ति बनी हुई है। विपश्यना के अभ्यास से काम करने की शक्ति, क्षमता बढ़ेगी। काम अच्छा होगा। परिणाम अच्छे आएँगे। सफलता अधिक मिलेगी। जो जिस क्षेत्र में काम करता है, उसमें उन्नति करता चला जाएगा। धर्म पलायन के लिए नहीं है। अभिमुख होकर जीने के लिए है। जीना आ जाएगा। अपनी जिम्मेदारियों के प्रति अभिमुख होकर जिएँगे। स्वतः समाधान मिलने लगेगा।

अपनी-अपनी दिनचर्या की अनुकूलता के आधार पर सुबह-शाम एक-एक घंटे का समय निश्चित कर लें। जहाँ तक हो सके निर्धारित समय पर ही साधना करें। इसका अपना लाभ होगा। एक आदत बन जाएगी। लेकिन किसी कारण यदि निश्चित समय पर ध्यान न कर पाएँ, तो उस दिन का ध्यान छूटे नहीं। जब समय मिला तब कर लें।

इसी तरह का एक स्थान निश्चित कर लें। उसी स्थान पर उसी आसन पर ध्यान करने का अपना प्रभाव होता है। ध्यान के लिए अलग कमरा हो तो बहुत अच्छा, नहीं तो अपने रहने के कमरे में एक छोटा-सा स्थान निश्चित कर लें, जहाँ केवल विपश्यना साधना ही करें। तो देखेंगे नित्य-प्रति की विपश्यना साधना की राग-विहीन, द्वेष-विहीन, मोह-विहीन तरंगें उस स्थान को एक तपोभूमि जैसा बना देंगी। इसका बड़ा लाभ होगा परंतु यदि किसी कारणवश किसी दिन निश्चित स्थान पर ध्यान न कर सके तो उस दिन का

ध्यान छोड़ेंगे नहीं। जहाँ कहीं सुविधा मिले, वहीं करेंगे। मुख्य बात यह है कि दिन में दो बार एक-एक घंटे साधना अवश्य करेंगे। नियमित साधना न करने की बाधा अधिकतर पहले वर्ष में ही आती है। फिर नहीं आती। सहज हो जाती है। अतः वर्ष भर मन को दृढ़ करके दिन में दो बार एक-एक घंटे साधना करें ही।

और फिर रात को जब लेटें तो आँख बंद करके, भले पाँच मिनट ही सही, शरीर में जहाँ जो कुछ हो रहा है उसे जानते-जानते सोएँ। सुबह आँख खुलते ही पहला काम पाँच मिनट तक शरीर की संवेदना को जानना। यों अनित्य बोध में सोएँगे, अनित्य बोध में जागेंगे। इसका बहुत बड़ा लाभ होगा।

इसके अतिरिक्त जिस गाँव में, मोहल्ले में एक से अधिक विपश्यी साधक रहते हों, उन्हें चाहिए कि सप्ताह में कोई एक दिन, कोई एक समय, कोई एक स्थान निश्चित कर लें और वहाँ सामूहिक साधना करें। सामूहिक साधना का अपना बड़ा लाभ होगा।

इसके अतिरिक्त साधना में परिपुष्ट होकर उसका पूरा-पूरा लाभ लेना है तो सुबह-शाम का अभ्यास जितना आवश्यक है उतना ही साल में एक बार दस दिन का शिविर। ऐसे किसी तपोभूमि के सार्वजनिक शिविर में शामिल हो जाएँ तो बहुत अच्छी बात है। वातावरण का लाभ मिलेगा। अन्यथा अपना शिविर स्वयं लगाएँ। स्वयं शिविर लगाना ज्यादा अच्छा है। धीरे-धीरे साधक को स्वाधीन होना चाहिए। अपने पाँव पर खड़ा होना चाहिए। पहला शिविर किसी के मार्ग-निर्देशन में करना अनिवार्य है। परंतु हमेशा किसी गुरु की, मार्ग-दर्शक की बैसाखी लेकर चलेंगे तो मुक्त नहीं हो सकेंगे। स्वयं-शिविर हमें मुक्त बनाता है, स्वावलंबी, स्वाधीन बनाता है। अपने पाँव पर खड़े होने की हिम्मत आती है। स्वयं-शिविर ऐसा ही करेंगे जैसे यह शिविर किया। यही नियम, यही अनुशासन।

काम शुरू करते ही तीन रत्नों की शरण लेंगे। खूब समझकर शरण लेंगे। आठ शील लेंगे और उनका कड़ाई से पालन करेंगे। तीन दिन आना पान और चौथे दिन से विपश्यना करेंगे। सब कुछ इसी तरह करना है जैसे यहाँ किया। स्वयं-शिविर का वही लाभ होगा जो यहाँ हो रहा है।

एक बात और समझें। नियमित विपश्यना करते हुए घर-बाहर की अपनी जिम्मेदारियाँ अवश्य निभाएँ। जो व्यक्ति जिस काम में जिस जिम्मेदारी में लगा है उसे बखूबी पूरा करना ही उसका उस समय का ध्यान है। काम के समय काम में सारा ध्यान लगाएँ, ताकि काम में पूरी सफलता मिले। उस समय संवेदना या साँस देखना चाहेंगे तो कठिनाई हो जाएगी। आधा मन यहाँ, आधा मन वहाँ। न यह होगा, न वह होगा। इसलिए जब कोई काम करें तो सारा ध्यान उस काम में रखें। खूब कुशलता से संपन्न होगा वह काम।

लेकिन जब कभी अवकाश मिले, आराम करना हो तो आँखें खुली हों, मन भीतर हो। कभी समय नष्ट नहीं करें। एक बात और ध्यान में रखें — कभी धर्म का दिखावा नहीं करें। अन्य लोगों के बीच कभी आँखें बंद कर ध्यान न करें। ऐसा करेंगे तो भीतर अहंकार जागेगा। मैं बड़ा ध्यानी हूँ। जहाँ धर्म का दिखावा हुआ कि भीतर से खोखलापन आया। भीतर धर्म नहीं है इसलिए दिखावा चाहता है। अगर है तो क्या दिखावा करेगा? व्यवहार बोलेगा कि धर्मवान है।

साथ ही अपने-आपको जाँचते रहेंगे कि जीवन में सुधार आ रहा है कि नहीं? अनचाही बात होने पर पुरानी आदत की वजह से चिड़चिड़ा उठेंगे। किसी के साथ बुरा व्यवहार भी कर लेंगे। पर देखना यह होगा कि जल्दी होश आकर कितनी जल्दी समता में स्थापित हुए और कितनी जल्दी उसी व्यक्ति के प्रति मंगल मैत्री जागने लगी। बस, यों अपने-आपको जाँचते-परखते रहेंगे। ऐसे परखते रहेंगे तो ही जानेंगे कि विपश्यना कर्म कांड नहीं बन रही है। धर्म के रास्ते ठीक चल रहे हैं। विपश्यना साधना करें तो जीवन में अंतर आना ही चाहिए। जीवन पहले से अधिक सुखी होना ही चाहिए। मंगलमय होना ही चाहिए।

बड़ा अनमोल रत्न मिला है। इसे सँभालकर ही नहीं रखना है; बल्कि इसका संवर्धन करना है। धर्म का जितना-जितना संवर्धन होगा उतना-उतना अधिक मंगल सधेगा। सारे मंगल, सारे सुख भीतर ही समाए हुए हैं। अभ्यास करते जाएँ, धर्म में पकते जाएँ और अपना सही मंगल साधते जाएँ। अपने मंगल में लोक-मंगल समाया हुआ है। लोक-मंगल में अपना मंगल समाया हुआ है। धर्म में सबका मंगल समाया हुआ है।

द्वेष और दुर्भाव का, रहे न नाम निशान।
स्नेह और सद्‌भाव से, भर लें तन मन प्राण॥

मन मानस में प्यार ही, उर्मिल-उर्मिल होय।
रोम-रोम से ध्वनि उठे, मंगल-मंगल होय॥

दूर रहे दुर्भावना, द्वेष रहें सब दूर।
निर्मल-निर्मल चित्त में, प्यार भरे भरपूर॥

मेरे अर्जित पुण्य में, भाग सभी का होय।
मेरे सुख में शांति में, भाग सभी का होय॥

मैं करता सबको क्षमा, करें मुझे सब कोय।
मेरे तो सब स्वजन हैं, नहीं पराया कोय॥

नमन करें हम धरम को, धरम करे कल्याण।
धरम सदा रक्षा करे, धरम बड़ा बलवान॥

सबका मंगल, सबका मंगल, सबका मंगल होय रे।
तेरा मंगल, तेरा मंगल, तेरा मंगल होय रे॥
दृश्य और अदृश्य सभी, जीवों का मंगल होय रे।
जल के थल के और गगन के, प्राणी सुखिया होय रे॥
दशों दिशाओं के सब प्राणी, मंगललाभी होय रे।
निर्भय हों निर्वैर बनें सब, सभी निरामय होय रे।
जन-जन मंगल, जन-जन मंगल, जन-जन मंगल होय रे ॥

कुछ प्रेरक प्रसंग

1

जिस प्रकार हंडिया में जले हुए शाक को देखकर किसी साधिका के मन में अपने सभी कर्मबीजों को विपश्यना साधना द्वारा भून लेने का प्रेरक उत्साह जागा, उसी प्रकार अतीतकाल के अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे प्रेरित होकर साधक-साधिकाएँ विपश्यना साधना में अत्यंत उत्साहपूर्वक जुट गए और परम मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए।

भगवान की जीवनकाल की एक अन्य घटना ।

कोसल नरेश प्रसेनजित के ब्राह्मण राजपुरोहित की पुत्री दंतिया। भगवान के संपर्क में आई यानी धर्म के संपर्क में आई। श्रावस्ती में अनाथपिंडक द्वारा निर्मित जेत वन-विहार में अनेक भिक्षु-भिक्षुणियाँ, गृहस्थ पुरुष-स्त्रियाँ, ध्यान-साधना किया करते थे। यह श्रद्धाबहुल ब्राह्मण-पुत्री भी यहीं कुछ दिनों साधना सीखती रही। कुछ प्रगति हुई तो गृहस्थ न रहकर भिक्षुणी बनने का वैराग्य-भाव मन में जागा। अतः महाप्रजावती गौतमी से प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी बनी और विपश्यना भावना में रत रहने लगी।

एक बार भिक्षुणी संघ के साथ क्रमशः यात्रा करते हुए राजगिरि गई और वहीं भिक्षुणी विहार में रहने लगी। एक दिन मध्या भोजन के बाद गिज्झकूट पर्वत पर किसी पेड़ के नीचे बैठी विचारमग्न थी। तब उसने देखा कि महाबलशाली विशालकाय हाथी नीचे नदी में जल विहार करके तट पर विश्राम कर रहा है। इतने में एक अंकुशधारी महावत वहाँ आया। उसने हाथी

को आदेश महावत दिया 'पाँव पसार।' हाथी ने अपना पाँव पसार दिया, जिस पर चढ़कर हाथी की पीठ पर जा बैठा। हाथी उसके आदेशों को मानते हुए शहर की ओर चल दिया।

ऐसा महान बलशाली विपुल देहधारी गजराज यदि चाहता तो उस छोटे से आदमी को अपने पाँव तले कुचलकर उसका कचूमर निकाल देता। परंतु उसने ऐसा नहीं किया। यह मनुष्य का गुलाम हो गया था। उसके हुक्म का ताबेदार बन गया था। उसका सेवक बन गया था। हितैषी बन गया था।

भिक्षुणी सोचने लगी, "जब एक अंकुशधारी महावत ऐसे शक्तिशाली प्राणी को अपने वश में कर सकता है तो मैं अपने मन को वश में क्यों नहीं कर सकती? अवश्य कर सकती हूँ।" इस प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त कर भिक्षुणी दंतिया ने दृढ़ संकल्प धारण किया और समीप के वन में प्रवेश कर मुक्तिदायिनी विपश्यना के अभ्यास में जी-जान से जुट गई। अथक परिश्रम द्वारा वह अचिरकाल में ही मानस के सभी कषायों को निर्जरा करके अर्हत अवस्था में प्रतिष्ठित हुई। भवचक्र से मुक्त हुई। मानव जीवन सफल कर लिया।

ऐसी ही एक और घटना ।

महानगरी श्रावस्ती के एक महावत के घर एक बालक का जन्म हुआ। बालक हथ्यारोहपुत्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वयस्क होने पर उसने कुल गत हस्ति-वशीकरण विद्या में पूर्ण निपुणता प्राप्त कर ली। चंड-से-चंड स्वभाववाले मदमस्त हाथियों को अत्यंत कुशलतापूर्वक वश में करना सीख लिया। एक बार वह किसी हाथी को वश में करने के काम में लगा हुआ था। एकाएक एक विचार उठा—"क्या मैं सारे जीवन इन चंड हाथियों को ही वश में करता रहूँगा? कभी अपने चंड स्वभाववाले मन को भी वश में कर सकूँगा या नहीं?" इस कुशल चिंतन से अभिभूत होकर वह जेत वन विहार आश्रम में गया। वहाँ भगवान की धर्मदायी अमृतवाणी सुनकर यही निर्णय किया कि मेरे लिए अपने मन को वश में करना अधिक उपयोगी है। उसे पालतू बनाने में अपना श्रम लगाना चाहिए। जंगली हाथी को पालतू बनाकर मैं जितना लाभान्वित हूँ, उससे कहीं अधिक लाभ इस जंगली मन को पालतू बनाने से प्राप्त होगा। यह जब तक जंगली है, तब तक बहुत बड़ा दुश्मन है। पर वश में हो जाए, पालतू बन जाए तो बहुत बड़ा मित्र बन जाएगा, हितैषी सेवक बन

जाएगा। इस प्रकार सद्धर्म के प्रति अत्यंत श्रद्धावान होकर घर से बेघर हो भिक्षु बन गया।

भगवान से साधना की विधि सीखकर वह चिरकाल तक विपश्यना के अभ्यास में रत रहा। पर मन वश में नहीं हो रहा था। भूत-भविष्य की विभिन्न कामनाओं में, सुखद कल्पनाओं में लोट-पलोट लगाता रहता था। बड़ा ही दुर्दमनीय हो उठा था मन।

ऐसे समय उसे अपनी हस्तविद्या का कौशल्य याद आया। किस प्रकार दुर्दमनीय हाथियों को कुशलतापूर्वक अपने वश में कर लिया करता था। उस कार्य में कितना धीरज रखना पड़ता था। मतवाले हाथी को कब कितनी छूट देनी होती थी, कब कितना अंकुश लगाना पड़ता था, किस चतुराई के साथ उसे वशवर्ती किया जाता था। इस चिंतन से उसके भीतर एक बिजली-सी कौंधी। बस, इसी प्रकार इस निरंकुश मन को भी निग्रहित करना होगा। बहुत मनमानी कर ली इसने। बहुत दौड़ चुका इधर-उधर। बहुत होश खोए रहा यह। अब तो इसे पालतू बनाना ही होगा।

इस दृढ़संकल्प के साथ स्वेच्छाचारी मन को वश में करने के काम में उसी प्रकार लग गया, जिस प्रकार कि उन्मत्त हाथी को अंकुश के सहारे वश में किया करता था। धीरज और लगन के साथ काम करते-करते वह अपने शुभ प्रयत्नों में सफल हुआ। श्रोतापन्न, सकृदागामी और अनागामी अवस्थाओं को पार करते हुए उसने अर्हत के अमृतपद का साक्षात्कार कर लिया। कृतकृत्य हुआ! जीवनमुक्त हुआ ! धन्य हुआ!

2

भगवान के जीवनकाल की एक घटना ।

राजगृह के एक संपन्न सेठ के घर जन्मा रमणीयविहारी नामक श्रेष्ठि पुत्र विलास-वैभव की विपुलता में पला। युवा अवस्था को प्राप्त होने पर यौवनमद में मूर्च्छित होकर काम-भोगों का स्वेच्छाचारी जीवन जीने लगा। एक बार उसने देखा कि उसी की भाँति काम-व्यभिचार में अनुरक्त होनेवाले एक राजपुरुष को काम-संबंधी मिथ्याचरण के कारण राज्य की ओर से घोर दंड दिया गया। इसे देखकर वह भयभीत हो उठा। आकुल-व्याकुल हो उठा।

मानसिक-शांति के लिए भगवान के आश्रम में गया और भगवान की धर्मवाणी सुनकर उत्साहित हो, वहीं प्रव्रजित हो गया। भगवान से विपश्यना साधना की अनुकूल विधि सीखकर एक निर्जन स्थान में जाकर अभ्यास करने लगा। परंतु बहुत प्रयास करने पर भी सफलता नहीं मिली। पूर्व स्वभाव के कारण बार-बार मन काम वासनाओं के चिंतन में ही विचरण करने लगता और जब होश आता तो पश्चाताप के पंक में डूबने लगता, पर साक्षीभाव से विपश्यना नहीं कर पाता। यों खिन्न मन सड़क के किनारे, एक पेड़ के नीचे निराश बैठा हुआ था। उस समय उसने देखा कि किसी गाड़ी में जुता हुआ एक बैल ऊबड़-खाबड़ रास्ते के कारण ठोकर खाकर गिर पड़ा। गाड़ीवाले ने प्यार से उसे उठाया, गाड़ी के जुए से मुक्त करके कुछ देर विश्राम करने दिया, फिर कुछ चारा-पानी देकर उसकी पीठ थपथपाई और पुन: गाड़ी में जोत दिया। वह अनुभवी बैल दुगुने उत्साह से फिर गाड़ी खींचने लगा और रास्ता ऊबड़-खाबड़ होते हुए भी उसे पार कर आगे बढ़ गया।

इस घटना को देखकर साधक रमणीयविहारी के मन में अपूर्व प्रेरणा जागी। वह बड़े उत्साह के साथ साधना में लग गया और अल्पकाल में ही इसी जीवन में मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गया।

× × ×

इसी प्रकार की एक और घटना।

नंदक और भरत अपने पूर्व पुण्यों के फलस्वरूप भगवन के जीवनकाल में चंपा नगरी के एक धनी गृहस्थ के घर जन्मे। बड़े होने पर उन्होंने एक दिन सुना कि उसी नगरी का 'सोण' नामक अत्यंत सुकोमल, सुकुमार और ऐशो-आराम में पला हुआ महाधनी पुत्र अपना घर-बार छोड़कर भगवान के पास प्रव्रजित हो साधना करते हुए अर्हत अवस्था को प्राप्त हो गया है। यह सुनकर दोनों भाइयों के मन में अत्यंत धर्म संवेग जागा और दोनों प्रव्रजित होकर विपश्यना साधना के अभ्यास में जुट गए। बड़ा भाई भरत अपने सत्प्रयत्नों द्वारा अचिरकाल में ही सारे आश्रवों से छुटकारा पाकर अर्हत अवस्था को प्राप्त हो गया। परंतु छोटे भाई नंदक की राह में बहुत बाधाएँ आईं। यद्यपि

उसने परिश्रम तो बहुत किया, परंतु अनेक जन्मों के संग्रहित विपुल कषायों के कारण एक-पर-एक बाधा आती ही रही। अंतराय आता ही रहा। शरीर की संवेदनाओं के आधार पर अनित्य बोध की प्रज्ञा नहीं जाग पाई। अतः नंदक बहुत निराश हो उठा। साधना करने का सारा उत्साह खो बैठा। भरत ने अपने भाई की यह दशा देखी तो उसके मन में पुनः उत्साह जगाने के लिए कुछ देर धर्म-चर्चा करता रहा। साधना की विधि समझाते हुए वह अपने भाई के साथ ध्यान केंद्र के बाहर टहलने निकल आया। कुछ दूर जाने पर रास्ते के किनारे पर बैठकर भाई को उत्साहित करने के लिए धर्म प्रबोधिनी बातें करता रहा।

इतने में देखा कि बैलगाड़ियों का एक कारवाँ चला आ रहा है। और देखा कि उनमें से एक गाड़ी का चक्का गहरे दलदल में धँस गया है। बैल स्वयं भी घुटने-घुटने कीचड़ में धँसा हुआ गाड़ी को आगे चलाने का प्रयत्न करता रहा, पर असफल रहा। अंततः वहीं गिर पड़ा। गाड़ीवान ने तुरंत बैल को गाड़ी के जुए से खोलकर बाहर निकाला और दाना-पानी देकर स्वस्थ किया। कुछ देर बाद उसकी पीठ थपथपाकर फिर गाड़ी में जोत दिया। बैल उत्तम जाति का था। प्रशिक्षित था। उसने अपना सारा बल लगाया और गाड़ी को दलदल के बाहर निकालकर आगे बढ़ चला।

यह देखकर भरत ने भाई नंदक को कहा, "देखा! इस बैल के पुरुषार्थ को।" नंदक ने उत्तर दिया, "हाँ देखा। जिस प्रकार यह पुरुषार्थी बैल अपने पूरे पराक्रम से इस गहरे दलदल से निकल सका, वैसे ही मैं भी अपना पूरा पराक्रम लगाकर इस भव संसार के दलदल से बाहर निकलूँगा ही। "

और इस प्रसंग से असीम प्रेरणा पाकर साधक नंदक विपश्यना में जुट गया। अब तक विफलता-ही-विफलता का सामना करनेवाला निराश नंदक अब परम उत्साह के साथ काम करता हुआ सफलतालाभी हुआ। विपश्यना के तेज से सारे बंधनों को जलाकर पूर्णतया मुक्त हुआ, अर्हत अवस्था को प्राप्त हुआ। साधना सफल हुई। साधक धन्य हुआ।

विजय के हर्षोल्लास में नंदक ने इस प्रसंग को याद करके ही यह वृषभनाद किया, "सम्यक् सम्बुद्ध का सम्यक् दर्शन संपन्न श्रावक उस भद्र आजानीय वृषभ के समान ही है जो कि किन्हीं कारणों से गिर पड़ने पर भी और अधिक संवेग बल से उठ खड़ा होता है और आगे बढ़ जाता है।"

3

नन्ही-नन्ही सामान्य साधारण घटनाएँ सबके जीवन में घटती ही रहती हैं, परंतु कभी-कभी बहुत साधारण-सी लगनेवाली घटना किसी पुण्यशील व्यक्ति के लिए अपूर्व प्रेरणा प्रदायिनी बन जाती है। और उसके अंतर में एक ऐसा अदम्य उत्साह जगा देती है कि वह सारी सुख-सुविधाओं को लात मारकर मुक्ति के मार्ग पर प्रबल पराक्रम करता हुआ बढ़ चलता है।

किसी बूढ़े को, बीमार को, मुर्दे को और संन्यासी को देख लेना कोई असाधारण बात नहीं है। लोग देखते ही रहते हैं। हो सकता है पिता शुद्धोधन के पुत्र सिद्धार्थ को निवृत्ति मार्ग की ओर जाने से रोकने के लिए विलास-वैभव और आमोद-प्रमोद में लगाए रखा हो। यह भी संभव है कि किसी मुर्दे को देखने का उसे पहले कभी कोई अवसर न मिला हो। पर वृद्ध तो देखा ही होगा। भले बड़ी उम्रवाले नौकर-नौकरानियों को राजकुमार से दूर रखा जाता हो, परंतु उसकी अपनी छोटी माँ प्रजावती गौतमी और स्वयं पिता शुद्धोधन लगभग 65-70 वर्ष के हो चुके थे, जबकि राजकुमार 25-30 वर्ष का हुआ। उनके पके हुए बाल, चेहरों पर पड़ी हुई झुरियाँ उसने अवश्य देखी होंगी। इसी प्रकार उनमें से किसी को रोग से पीड़ाग्रस्त हुआ भी देखा ही होगा। और धर्मभीरु राजघराना था। आए दिन साधु-संतों को भोजन-दान, उनका सम्मान-सत्कार चलता ही रहा होगा। उनकी वंदना करने और उनके मंगल-आशीर्वाद लेने के लिए राजकुमार को भी उनके सम्मुख लाया ही जाता होगा। अतः यह अनुमान करना गलत नहीं कि ऐसे दृश्य राजकुमार ने पहले भी अवश्य देखे होंगे। परंतु उस दिन इन्हीं निमित्तों को देखते हुए मनोस्थिति इस प्रकार रही होगी, जिसकी वजह से गृहत्याग कर सत्य की खोज की ऐसी प्रबल प्रेरणा जाग उठी, जो किसी के रोके न रुक सकी।

उस दिन देखे गए जरा, व्याधि और मृत्यु के प्रतीकों में सारे संसार का दुख उभर उठा होगा और उस गृहत्यागी संन्यासी के शांत चेहरे के प्रतीक में दुःख-विमुक्ति का अपूर्व आश्वासन मन में जाग उठा होगा। इसी कारण उस घटना ने उस समय चिंतनशील राजकुमार के मानस पर विचारों का बहुत बड़ा तूफान खड़ा कर दिया होगा।

जहाँ संसार में जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु की सर्वत्र कराह है, वहाँ उनके परे अजर, अमर, निर्वाण की सच्चाई भी होगी ही। मुझे उसकी खोज करनी चाहिए।

जैसे संसार में एक ओर इंद्रिय दुख है तो दूसरी ओर इंद्रिय सुख का भी अस्तित्व है। ऐसे ही जहाँ भव चक्र है, वहाँ भव-निःसरण भी अवश्य होगा ही।

जैसे संसार में उष्णता है तो उसके मुकाबले शीतलता भी है। वैसे ही जहाँ त्रिविध ताप है, वहाँ सर्व तापनाशक निर्वाण की परम शांति भी अवश्य होगी ही।

जैसे यहाँ पाप है और उसके विपरीत पुण्य भी है। वैसे ही जहाँ जन्म है, वहाँ अजन्म अवस्था भी होगी ही। जहाँ जरा है, वहाँ अजर अवस्था भी होगी ही। जहां मृत्यु है, वहाँ अमृत भी अवश्य होगा ही। मुझे इसकी पर्यवेषणा करनी चाहिए।

जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु के इस दुखद भवचक्र का कोई तो मूलभूत कारण होगा ही और यदि है तो उसके निवारण का भी कोई उपाय अवश्य होगा। यदि ऐसा कोई उपाय है तो उसके द्वारा भवचक्र से सर्वथा विमुक्त हो नितांत दुख-निरोध की अवस्था का परम सत्य उपलब्ध किया जा सकता है। किया जाना ही चाहिए। केवल मेरे ही दुख-निरोध के लिए नहीं । संसार के इतने प्राणी दुखों से तड़प रहे हैं। इनकी दुख-विमुक्ति के लिए भी परम सत्य की खोज करनी आवश्यक है।

गंदगी से भरे व्यक्ति को अपने मैल धोने के लिए सरोवर तो है, पर वह सरोवर की खोज ही न करे तो दोष किसका? सरोवर का नहीं ।

प्राणघातक दुश्मनों से घिरे हुए व्यक्ति के लिए भाग निकलने का रास्ता तो है, परंतु वह उसे ढूँढ़े ही नहीं तो दोष किसका? रास्ते का नहीं?

आग की लपटों से घिरे घर में से भाग निकलने की राह तो है, पर उसे जानने का प्रयत्न ही न करे तो दोष किसका? राह का नहीं।

रोग दूर करने के लिए चिकित्सा तो है पर रोगी उसे उपलब्ध ही न करे तो दोष किसका? चिकित्सा का नहीं।

जन्म-जन्मांतरों के भवचक्रों से प्रपीड़ित व्यक्ति के लिए क्लेश निवारण का मार्ग तो है, परंतु वह उस मार्ग की गवेषणा ही न करे तो दोष किसका? मार्ग का नहीं।

और यह गवेषणा घर पर बैठे हो नहीं सकती। घर-गृहस्थी में धर्म के नाम पर अधिकतर कर्मकांड ही चलते हैं। उनमें परम सत्य को खोजना निस्सार में सार को खोजने जैसा ही है। पिता ने तत्कालीन दर्शन-शास्त्रों के आचार्यों को घर बुलाकर सभी दार्शनिक मान्यताओं पर ऊहापोह करने के साधन जुटा दिए थे। परंतु इस कोरे चिंतन-मनन मात्र से परम सत्य की उपलब्धि हो जाए, यह असंभव है। पूर्वकाल के मुक्त हुए महापुरुषों ने सत्य का साक्षात्कार स्वयं किया। और अपने भीतर ही किया। मुझे भी यही करना होगा। परम सत्य की खोज अपने भीतर ही करनी होगी। इसके लिए अंतर में पैठ सकने की कोई वैज्ञानिक विधि ढूँढ़नी होगी। और फिर इसके निरंतर निर्वाध अभ्यास के लिए अनुकूल वातावरण चाहिए, जो कि इस बाह्य प्रेक्षी राजसी वातावरण में पा सकना असंभव है।

परम सत्य की खोज की इस तीव्र अभिलाषा को सामान्य से लगनेवाले इन चार प्रसंगों ने कितना बल दिया। अनिंद्य सुंदरी, परम रूपलावण्यमयी, सेवाभाविनी पत्नी यशोधरा का और सुंदर सुकोमल नवजात शिशु राहुल का सारा आकर्षण त्यागकर सत्य-शोधक राजकुमार सिद्धार्थ गृहत्यागी बना। राज्य के समस्त वैभव-विलास, आमोद-प्रमोद के प्रसाधनों को इसी निसंगभाव से त्यागकर चल दिया—जैसे कोई शौचालय में जाकर मल-मूत्र त्यागकर चल देता है और उस ओर मुड़कर देखता भी नहीं।

परम सत्य की खोज में निकला हुआ मुमुक्षु राजकुमार अनेक जगह भटका, अनेक प्रकार के प्रयोग करके देखे। अपने भीतर समाधि की तलस्पर्शी गहराइयों को मापने के लिए उन दिनों के प्रसिद्ध ध्यान आचार्य आलारकलाम और उद्दकरामपुत्त से क्रमशः सातवाँ और आठवाँ ध्यान सीखा। पर इनसे भी इंद्रियातीत परम सत्य का साक्षात्कार न हो सका। ये उन दिनों के प्रचलित ध्यान की बहुत ऊँची अवस्थाएँ थीं। पहले से चौथा ध्यान अपने भीतर और पाँचवें से आठवाँ ध्यान बाहर अनंत तक फैलने का ध्यान होता है। इन ध्यानों के कई आलंबन होते हैं। मिट्टी, जल, अग्नि, वायु के अतिरिक्त विभिन्न रंगों व रोशनियों को भी आलंबन बनाया जाता है। लंबे अभ्यास द्वारा ऐसे आलंबन को संकुचित करते-करते बंद आँखों के सामने एक लेशमात्र बिंदु तक सिकोड़कर स्थित कर लिया जाता है और फिर प्रबल मनोबल से उस पर पूरा

अधिकार जमाने के अनेक प्रयोग किए जाते हैं। तदनंतर साधक उसे यथेच्छ विस्तृत करता है, फैलाता है। अनंत तक फैलाते जाता है। लेशमात्र रंग के बिंदु को और आगे चलकर शुभ्र प्रकाश के बिंदु को अनंत तक फैलाकर साधक अपने चित्त को उसमें समाहित कर लेता है। शुभ्र लेश्या से अनंत आयतनों की पाँचवीं से आठवीं ध्यान समापत्तियों द्वारा साधक का मानस बहुत अंशों में निर्मल हो जाता है। परंतु अंतर्मन की गहराइयों में अनेक जन्मों से संचित कर्म संस्कारों के कषाय-क्लेश की कुछ जड़ें बची रह जाती हैं, उनको भी दूर किए बिना पूर्ण मुक्ति कहाँ? आठों ध्यानलाभी साधक भवाग्र स्थित अरूप ब्रह्मलोक का अधिकारी अवश्य हो जाता है। पर भवातीत निर्वाण कहाँ? लोकातीत परम विमुक्ति की अवस्था कहाँ? ऐसा साधक अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ प्राप्त करके अनेक प्रकार की अलौकिक लगनेवाली रिद्धि-सिद्धियों का अधिकारी अवश्य बन जाता है। पर इंद्रियातीत नित्य, शास्वत, ध्रुव, परम शांति की अवस्था कहाँ? जब तक लेशमात्र भी कर्म-क्लेश बाकी है, तब तक भवचक्र, लोकचक्र, दुखचक्र चलता ही रहता है। जो विमुक्ति के परम सत्य का अन्वेषी है, वह भला यहीं कैसे रुकता? उन ध्यान आचार्यों के पास लेशमात्र बचे हुए अनुशय सुषुप्त क्लेशों को दूर करने का कोई साधन नहीं था। अत: राजकुमार तपस्वी अन्य साधनों की खोज में चल पड़ा।

उन दिनों की एक बहुत प्रबल मान्यता यह भी थी कि भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर को यंत्रणा देने से, कष्ट देने से कर्म के मैल उतर जाते हैं। क्यों न इसे भी आजमाकर देखा जाए? असीम वैभव-विलास में पला हुआ सुकुमार-सुकोमल राजयोगी इस दुष्कर चर्या में भी दृढ़तापूर्वक लग गया और इसकी भी चरम सीमा तक का प्रयोग करके देखा गया। उन दिनों के प्रचलित सभी देह दंडों की तपश्चर्या करके देखी। अनेक प्रकार से काया पर आतापन-संतापन का प्रयोग किया।

अनेक दिनों काँटों की शैय्या पर सोकर देखा। ठिठुरती ठंड में भीगे वस्त्रों पर सोने का उपक्रम किया। शीतकाल में रात-रात भर खुले मैदानों में रहता और दिन में सीलन भरे घोर वन-खंडों में। ग्रीष्म की तपती दोपहरी में बिना छायावाले खुले मैदानों में रहता और रात को सघन वन-खंडों में। नाना

प्रकार से शरीर को कष्ट ही देता। नाना प्रकार के अभक्ष्य भोजन करके देखे और जब उपवास करने पर तुला तो ऐसे उपवास किए कि शरीर को सुखाकर काँटा बना लिया। कहीं मांस-मज्जा का नामोनिशान नहीं बचा। केवल हड्डियों का पिंजर और उस पर सिकुड़ी हुई चाम। पैंतीस वर्ष की अवस्था में अस्सी वर्ष के बूढ़े से भी बदतर हालत हो गई। स्वर्णिम आभावाले सुंदर शरीर का रंग काला पड़ गया। जगह-जगह मैल के चिट्टे जम गए। कूल्हे ऐसे हो गए जैसे ऊँट के पाँव। रीढ़ की हड्डी के उन्नत अवनत काँटे ऐसे हो गए जैसे मूंज की ऐंठनभरी रस्सी। पसलियाँ ऐसी हो गईं जैसे जीर्ण-शीर्ण मकान की ढीली होकर अलग-थलग हुई कड़ियाँ-लकड़ियाँ। आँख के गड्ढों में पुतलियाँ ऐसी जैसे गहरे कुएँ में किसी तारे का प्रतिबिंब दीखता हो। सिर पर की चमड़ी एसी हो गई जैसे कच्ची तोड़ी हुई लौकी धूप में सूखकर सिकुड़ गई हो। पेट की चमड़ी पीठ की हड्डी से जा जुड़ी। उसे पकड़ना चाहता तो पीठ की हड्डी के काँटे हाथ में आ जाते। शरीर इतना कृश और दुर्बल हो गया कि जिस अंग को हाथ का सहारा देकर उठाना चाहता, वहीं के सड़े हुए जड़वाले लोम उखड़-उखड़कर गिर पड़ते। मल-मूत्र त्यागने के लिए उठकर चलना चाहता तो एक कदम भी नहीं चल पाता। वहीं भहराकर गिर पड़ता। काय क्लेश की पराकाष्ठा।

लगभग छह वर्ष तक देह दंडन की ऐसी कठोर दुष्कर चर्या करके भी देखा कि आठों ध्यान के बाद अंतर्मन की गहराइयों में जो लेशमात्र अनुश्य क्लेश बचे थे, वे वैसे-के-वैसे हैं। जरा भी दूर नहीं हुए।

तो बात समझ में आई कि जिस प्रकार काम-भोग, विलास-वैभव का जीवन जीते हुए कोई व्यक्ति एक अति का जीवन जीता है और मुक्ति से दूर रहता है, वैसे ही काय उत्पीड़न की तपश्चर्या में लगा हुआ व्यक्ति दूसरी अति का जीवन जीता है और वह भी इसी प्रकार मुक्ति से दूर रहता है। सुधारना मन को है। उसे विकारों से विमुक्त करना है। इस विमुक्ति की साधना के लिए मध्यम मार्ग की खोज करनी होगी।

युक्त आहार ग्रहण करके शरीर को आर्य साधना के योग्य बनाकर स्वयं ही अपने भीतर मध्यम मार्ग की साधना की खोज में लग गया। अनेक आंतरिक बाधाओं का सामना करता रहा। अंततः अपने अनेक जन्मों से

संचित संवर्धित पुण्य पारमिताओं का अपरिमित बल जाग उठा और विपश्यना का मुक्तिदायी मार्ग उजागर हुआ।

काम-भोगों का बंधन स्पष्ट हुआ। देह दंडन की निस्सारता स्पष्ट हुई। कर्मकांडों की निष्प्रयोजनता स्पष्ट हुई। विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल टूटे। स्वानुभूति के आधार पर जागी हुई भावनामयी प्रज्ञा के बल पर अंधमान्यताजन्य दर्शन सम्यक्-दर्शन बना। सम्यक्-दर्शन के आधार पर बौद्धिक चिंतन-मननवाला भ्रामक ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूतियोंवाला सम्यक् ज्ञान बना। काल्पनिक विमुक्ति सम्यक्-विमुक्ति बनी। परम कल्याणी सम्यक् संबोधि की उपलब्धि हुई। सारे अनुशय-क्लेश छिन्न-भिन्न हुए। चित्त समस्त विकारों से नितांत विमुक्त हुआ। चेताविमुक्ति प्रज्ञाविमुक्ति में सहायक हुई। नित्य, शास्वत, ध्रुव, प्रणीत, प्रशांत शिव से एकाकार हुआ। परम सत्य का साक्षात्कार हुआ।

सिद्धार्थ राजकुमार सम्यक् संबोधि प्राप्त कर सम्यक् सम्बुद्ध बना। सर्वथा जाग्रत, प्रबुद्ध, सर्वज्ञ।

सामान्य साधारण से लगनेवाले ये चार प्रतीक किस प्रकार असीम प्रेरणा के प्रसंग बने? साधक के मन में सत्यान्वेषण का जो झंझावात जागा, वह अनंत शांति की परम अवस्था तक पहुँचकर ही रुका। साधक धन्य हुआ। ऐसे साधक को पाकर स्वयं साधना धन्य हुई। ऐसा साधक, जो कि केवल अपनी ही स्वस्ति-मुक्ति का कारण नहीं बना, बल्कि लाखों-करोड़ों की स्वस्ति-मुक्ति का प्रेरणास्रोत बन गया। मझधार में डूबते हुए के लिए प्रकाशमान दीप-स्तंभ बन गया।

हमारे भीतर भी ऐसी मंगलमयी प्रेरणा जागे, जो कि असीम शुभ फलदायी हो।

4

भगवान बुद्ध के जीवन काल की एक घटना।

कोशल देश की राजनगरी श्रावस्ती। नगर का महाधनी श्रेष्ठी परिवार। छोटे-बड़े अनेक कमरोंवाली वैभव-संपन्न सात मंजिली विशाल अट्टालिका। इसमें केवल चार सदस्यों को यह छोटा-सा श्रेष्ठी परिवार। रहे—सेठ, सेठानी,

एक छोटा पुत्र और एक पुत्री। पुत्री किशोर अवस्था को पार कर मदमाते यौवन में पाँव रख रही। घर में ऐशो-आराम के सारे साधन। बाहर भी 'सर्व अस्ति' श्रावस्ती, आमोद-प्रमोद और खेल-तमाशों के आकर्षक मनोरंजनों से भरी हुई महामाया नगरी। पिता को धन कमाने का नशा, रात-दिन इसी में मशगूल रहे। माता को अन्यान्य सामाजिक आयोजनों में उलझे रहने का शौक। बच्चों की जरा भी देखभाल नहीं, सार-सँभाल नहीं। छोटे पुत्र के लिए एक अलग नौकर रखा हुआ। युवा पुत्री की सेवा पर एक दूसरा युवा नौकर, जिसके बुरे संसर्ग ने उस अल्हड़ नवयौवना की उभरती उमर में वासना का ज्वार जगा दिया। पांव लड़खड़ाए और एक बार फिसली तो फिसलती ही चली गई। उस विशाल हवेली में एकांत अनाचार की भरपूर सुविधाएँ। दोनों पाप के कीचड़ में दिनों-दिन धँसते गए।

लड़की बीस वर्ष की हुई तो मां-बाप को उसके हाथ पीले करने की याद आई। एक सुखी-संपन्न प्रतिष्ठित परिवार के योग्य पुत्र से सगाई कर दी गई। विवाह का दिन भी निश्चित हो गया। आज घर में बारात आनेवाली है। यहाँ दोनों अनाचारियों को चिंता होने लगी। पराए घर जाने के बाद तो एक-दूसरे को देख भी न सकेंगे। शरीर संबंधों की बात तो दूर।

वासना के पंक-पुतले को मिथ्या प्रेम का सुंदर चोंगा पहनाकर और उस भ्रामक त्याग के भड़कीले आभूषण सजाकर दोनों ने अपने दुष्कर्मों का न्यायीकरण किया और भाग निकलने का फैसला किया। दोनों ने संकल्प किया। भले गरीबी में रहें, पर साथ रहेंगे। घर में बारात आने के पहले ही दोनों की पलायन-योजना सफल हुई। थोड़ा-बहुत जो भी धन-आभूषण बटोर सके, बटोरकर निकल भागे और नगर के दूर एक छोटे से गाँव में जा बसे।

साथ लाया हुआ धन बहुत दिन काम न आ सका। पाप कर्मों का फल उदय होने लगा। अत्यंत विपन्न अवस्था में दिन बीतने लगे। दो वर्ष बाद युवती को गर्भ रह गया। जैसे-जैसे गर्भ बढ़ने लगा, वैसे-वैसे चिंता भी। ऐसी विपन्न अवस्था में कैसे प्रसव होगा? कैसे बच्चे की देखभाल होगी? माँ-बाप की याद सताने लगी। मेरे दुष्कर्म की वजह से उनकी प्रतिष्ठा धूल में मिली। वे इस कारण बहुत नाराज होंगे। पर मैं जाकर

क्षमा माँगूंगी तो वे क्षमा कर ही देंगे। आखिर माँ-बाप हैं न! शीघ्र पीहर जाने के लिए मन उतावला हो उठा। पति घबराया। उसे डर था कि श्रावस्ती जाने पर उसे बहुत बड़ा राज-दंड भोगना पड़ेगा। अतः वह चलने के लिए आज-कल, आज-कल के बहाने बनाता हुआ टालने लगा। पति के मिथ्या आश्वासनों से निराश होकर गर्भ की बढ़ी हुई अवस्था में उस दुखियारी युवती ने अकेले ही जाने का फैसला किया। पति जब बाहर काम पर गया हुआ था तो पड़ोसन को सूचना देकर वह श्रावस्ती की ओर निकल पड़ी। रास्ते में बियावन वन था। पर थकी-माँदी निर्भय हो अकेली चली जा रही थी। घर लौटने पर पति को जैसे ही सूचना मिली, वह भी पीछे-पीछे दौड़ा चला आया। परंतु पत्नी वापस चलने के लिए तैयार नहीं हुई। लाचार पति भी उसके साथ हो लिया। राह चलते गर्भोत्थान हुआ और वहीं जंगल में एक पुत्र का जन्म हुआ। अब पति के बहुत आग्रह करने पर वह उसके साथ अपने घर लौट आई।

इसी प्रकार दीन अवस्था में दो वर्ष और बीते। उसे फिर गर्भ रहा। फिर माँ-बाप याद आने लगे। फिर पति उसी प्रकार बहाने बनाने लगा। टाल-मटोल करने लगा। फिर उसी प्रकार उसने अकेली जाने का फैसला किया और बच्चे को गोद में लेकर गर्भ की बढ़ी हुई अवस्था में श्रावस्ती की ओर चल पड़ी। पति पीछे-पीछे दौड़ा हुआ आया और उसी प्रकार फिर निर्जन वन में गर्भोत्थान हुआ। प्रसव का समय आया। दुर्भाग्य से उसी समय आकाश में बिना मौसम की तेज आँधी उठी और उसके बाद घनघोर वर्षा होने लगी। कहीं सिर छुपाने की जगह नहीं। प्रसव-पीड़ा बढ़ती जा रही थी। उसे आश्रय की जरूरत थी। पति ने सोचा, वैभव में पली इस श्रेष्ठा पुत्री की यह दुरावस्था मेरे ही कारण हुई। मुझे आँधी-पानी से बचाने के लिए कुछ तो करना ही चाहिए। क्यों न कहीं से कुछ लकड़ियाँ काट लाऊँ और सूखे पत्ते बटोरकर इसके लिए सिर छुपाने लायक पर्णकुटी ही बना दूँ। उस काल अँधेरी रात में वह इस उद्देश्य से निकल पड़ा और रातभर लौटा नहीं। गर्भवती युवती पानी और कीचड़ भरी राह पर पड़ी कराहती रही। उसका अरण्य-रोदन सुननेवाला कोई

नहीं। कौन सहायता करे? ऐसी विकट स्थिति में फिर प्रसव हुआ। एक नन्हे-से बच्चे को जन्म दिया उसने। सुबह पौ फटने तक भी पति नहीं लौटा तो घबराई। दोनों बच्चों को छाती से चिपकाए हुए पति को ढूँढ़ने निकली। कुछ ही दूर गई कि देखा उसके पति का शरीर अकड़ा और नीला हुआ पड़ा है। उसके प्राण पखेरू उड़ चुके थे। उसे किसी विषधर साँस ने डस लिया था। क्या करती? रोती, बिखलती, दोनों बच्चों को छाती से चिपकाए अकेली श्रावस्ती की ओर चल पड़ी।

प्रलयंकारी वर्षा रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी। रास्ते के छोटे-छोटे नाले भी नदियों जैसे बन गए थे। छोटी सी अचिरवती नदिया इस बाढ़ के मारे बहुत विशालकाय हो गई थी। दो-दो बच्चों को लेकर एक साथ इस नदी को कैसे पार करे? अत: एक युक्ति लगाई। बड़े बच्चों को समझा-बुझाकर नदी के इसी तट पर छोड़ा और नवजात शिशु को लेकर नदी पार कर गई। परले पार पहुँचकर नन्हे बच्चे को कपड़े में लपेटकर एक झाड़ी के नीचे लिटाया और अब बड़े को ले आने के लिए फिर नदी पार करने लगी। पर आँखें नवजात शिशु पर ही लगी थीं। उसे कुछ हो न जाए। बीच मझधार में पहुँची तो देखती है कि एक बहुत बड़ा गिद्ध उस शिशु को मांस का लोथड़ा समझकर उस पर झपट रहा है। बच्चे को बचाने के लिए और गिद्ध को उड़ाने के लिए वह जोर-जोर शू-शू की आवाज करने लगी और अपने दोनों हाथ हिलाने लगी। गिद्ध पर इसका कोई असर नहीं हुआ। वह नवजात शिशु को अपने पंजों में दबोचकर उड़ गया। परंतु इसका बुरा असर इस पार बैठे बच्चे पर हुआ। उसने माँ की आवाज सुनी और उसे जोरों से हाथ हिलाते देखा तो समझा कि माँ मुझे ही बुला रही है और वह शीघ्रतापूर्वक नदी में कूद पड़ा। दुखियारी असहाय माँ। देखते-देखते बच्चा तेज बहाव में बह गया।

पति को साँस ने डस लिया, एक पुत्र को गिद्ध दबोच ले गया। दूसरी को नदी बहा ले गई। अभागन नारी रोती, बिलखती श्रावस्ती की ओर चल पड़ी। पर अभी उसे और दुर्दिन देखने थे। दुष्कर्मों का और फल पकना बाकी था। श्रावस्ती पहुँचने के पहले श्मशान घाट से गुजरी तो देखा वहाँ चिता पर मुर्दे जलाए जा रहे हैं। श्रावस्ती से आते हुए एक

राहगीर ने प्रश्न किया तो पता चला कि रात के तेज आँधी-तूफान और मेह के कारण नगर के सेठ का सात मंजिला महल गिर पड़ा, जिसमें दबकर सेठ, सेठानी और उनका इकलौता पुत्र मर गए। अरे! वही तो उसका बाप था, वही इसकी माँ थी और वही इसका एकमात्र भाई था। चिता पर उन्हीं की लाशें जलाई जा रही थीं। इस दुस्संवाद से उस पर दुखों का पहाड़ टूट पड़ा। अब संसार में उसका कोई नहीं रह गया। वह अपना होश न सँभाल सकी। वहीं पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

कुछ देर बाद उठी तो खोया हुआ होश ही रहा, वापस नहीं आया। पूर्णतया विक्षिप्त हो गई। एक-एक करके शरीर पर के सारे कपड़े गिरा दिए। कुछ भी होश नहीं। पूर्ण नग्न श्रावस्ती की सड़कों और गलियों पर सिर धुनती, छाती पीटती, बिलखती फिरने लगी।

''हाय! मेरे पति को साँप डस गया। नन्हे को गिद्ध झपट ले गया। बड़े को नदी बहा ले गई। माँ, बाप, भाई दबकर मर गए और एक साथ चिता पर जलाए गए।'' लोग उसका करुण विलाप सुनते, दुखी होते। पर क्या करते? उसकी पागलों की-सी हरकतें देखकर अपने घर के किवाड़ बंद कर लेते। कोई उसे पास नहीं आने देता। 'पगली-पगली' कहकर बच्चे उसके पीछे दौड़ते, उस पर ढेले फेंकते।

ऐसी दुरावस्था में अपने पूर्व पुण्य के कारण वह एक दिन जेतवन विहार के पास से गुजरी। वहाँ भगवान एक बड़ी सभा को धर्म समझा रहे थे। लोगों ने उसे आते देखा तो दूर भगाना चाहा। कहीं यह पगली औरत धर्म सभा की शांति में विघ्न न पैदा कर दे। परंतु भगवान की नजर उस दुखियारी पर पड़ी तो लोगों को रोका। दुखियारी भगवान के समीप आई। भगवान ने करुणा भरे शब्दों में कहा, ''मेरी दुखियारी बेटी! होश सँभाल!'' वाणी में अमृत भरा था। सुनते ही उस दुखियारी को जरा-सा होश आया। उसका ध्यान अपने सर्वथा नग्न शरीर पर गया तो लाज के मारे सिकुड़ गई। वहीं उकुड़ू बैठ गई। समीप खड़े किसी भाई ने उस पर अपनी चादर डाली। उसने तुरंत चादर ओढ़ ली। विक्षिप्त अवस्था में सभी वस्त्रों को त्याग देने के कारण इस चादर ओढ़ी हुई दुखियारी का नाम 'पटाचारा' पड़ गया। लोग उसका पूर्व नाम ही भूल गए।

पटाचारा भगवान के और समीप आई और अपने दोनों पाँव, दोनों हाथ, और सिर पर धरती को छुआकर पंचाग प्रणाम करती हुई बोली, "भंते भगवान! मुझे शरण दीजिए, मैं बहुत दुखियारी हूँ।"

"बेटी! तू सही शरण स्थान पर आ गई है। तुझे यहाँ अवश्य शरण मिलेगी।" भगवान ने आश्वासन भरे शब्दों में कहा।

"भंते भगवान! मेरे पति को काले नाग ने डस लिया। एक पुत्र को गिद्ध दबोच ले गया। दूसरे को नदी बहा ले गई। माता-पिता, भाई दबकर मर गए। उन्हें एक साथ चिता पर जलाया गया। अब संसार में मेरा कोई नहीं। मुझे कौन शरण देगा?"

अपने दुखों को याद कर पटाचारा फिर फूट-फूटकर रोने लगी।

"बेटी होश कर! माता-पिता, भाई-बंधु, पति-पुत्र शरण नहीं दे सकते। सही शरण तो अपना धारण किया हुआ धर्म ही देगा। तू कौन से प्रिय स्वजनों की मृत्यु पर दुख के आँसू बहा रही है? इस अनादि भव संसार में तूने अनगिनत बार जन्म लिया है। सभी जन्मों में तेरे प्रिय स्वजन मरे हैं। उनके मरने पर तूने जितने आँसू बहाए हैं, यदि एक जगह एकत्र कर दिए जाएँ तो इन चारों महासमुद्रों का जल भी उसके मुकाबले कम होगा। और कितने जन्मों तक इसी प्रकार प्रिय-वियोग में रोती रहोगी? प्रमाद छोड़! होश में आ! समझदार को चाहिए कि इस असीम दुखमय भवसागर की सच्चाई को समझकर शीघ्र-से-शीघ्र मुक्ति का मार्ग खोजे। सदा के लिए दुख-विमुक्त हो जाए।"

भगवान की वाणी ने अमृत बरसाया। योग्य पात्र ने उसे ग्रहण किया। भगवान की वाणी सुनते-सुनते उस दुखियारी का चित्त एकाग्र हुआ। थोड़ी देर के लिए स्वमुखी हुआ, अंतर्मुखी हुआ। शरीर के अणु-अणु में उदय-व्यय की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। अनेक जन्मों की असीम पुण्य-पारमी के कारण इस अनित्य बोध की धर्म-गंगा में सारे पात-ताप धुलने लगे। वहीं बैठे-बैठे पटाचारा ने निर्वाण अवस्था का साक्षात्कार किया। श्रोतापन्न हुई।

कृतज्ञता-विभोर हो भगवान को नमस्कार किया और उनसे प्रव्रज्या की याचना की। भगवान ने उसे भिक्षुणियों के पास भेजकर प्रव्रजित करवाया और पटाचारा मुक्ति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हुई।

जो भव-संस्कार बचे थे, उनका सामना करना था। उन्हें भी अंतर्तप करते हुए विपश्यना की अग्नि में जलाना था। काम करने की कठिनाइयाँ आ रही थीं। कभी-कभी अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए स्वजनों, प्रियजनों की फिर याद आ जाती थी। एक दिन सायंकाल दृढ़ चित्त से साधना की तैयारी में लगी। बाल्टी से लोटा पानी भर जल लेकर अपने पाँव धोए। सूखी जमीन पर बहता हुआ जल कुछ ही दूर जाकर सूख गया। आगे न बढ़ पाया। एक लोटा पानी पाँव पर और डाला। इस बार जलधारा पहली की अपेक्षा कुछ और दूर जाकर सूख गई। तीसरी बार पाँव पर पानी डाला तो जलधारा कुछ और दूर जाकर सूख गई।

इस छोटी-सी घटना ने भीतर के ज्ञानतंतुओं को झकझोर दिया। मोहजन्य अज्ञान का पर्दा दूर हुआ। जैसी जलधारा वैसी ही जीवनधारा। इस संसार में किसी-किसी की जीवनधारा कम उम्र में ही सूख जाती है। किसी-किसी की मझली उम्र में और किसी-किसी की बढ़ी उम्र में। पर मरते तो सभी हैं। कोई नहीं बचता। इस मरणानुस्मृति के आधार पर साधना करने बैठी। उसी समय भगवान के अमृत भरे बोल कानों में गूँज उठे—

योच वस्ससत जीवे अपस्सं उदयब्बयं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयब्बयं॥

उदय-व्यय की सच्चाई को विपश्यना द्वारा देखे बिना कोई भले सौ वर्ष भी जिए, पर उसके मुकाबले उदय-व्यय को देखते हुए एक का जीना भी अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।

धर्मवाणी सुनकर साधिका पटाचारा का रोम-रोम रोमांचित हो उठा। मैंने जीवन के पच्चीस वर्ष अपने भीतर उदय-व्यय का दर्शन किए बिना ही गँवा दिए। अब भगवान की असीम अनुकंपा से इस सत्य का साक्षात्कार हुआ है। इसी सत्य के प्रति साक्षी भाव रखने से मुझे निर्वाण के प्रथम दर्शन हुए थे। इसी उदय-व्यय का निरंतर दर्शन करते-करते आगे की अवस्थाएँ प्राप्त होंगी। किसान खेत में परिश्रम करता है। जोतता है, बोता है तो फल प्राप्त करता है। मैं शुद्ध शील में प्रतिष्ठित बुद्ध पुत्री। उनके बताए मार्ग पर अप्रमत्त हो पुरुषार्थ करूँ तो परम मुक्त अवस्था प्राप्त कर

ही लूंगी। यों दृढ़ निश्चय करके वह अपनी कुटिया में विपश्यना करके बैठी।

समीप जलते हुए दीपक की लौ मंद पड़ने लगी, तो सुई से ठीक करने की कोशिश की। परंतु इससे लौ बुझ गई। जिस प्रकार इस दीपक की लौ बुझी, उसी प्रकार मेरे राग, द्वेष और मोह के संस्कारों की लौ बुझेगी और मनुष्य जीवन सार्थक होगा।

पटाचारा अधिक दृढ़ चित्त से विपश्यना में लग गई। शरीर और चित्त के प्रपंच को उसके अनित्य स्वभाव में तटस्थ भाव से देखते-देखते अंतर्मन पर पड़ी हुई भव-संस्कारों की परतें उतरने लगीं। और रात बीतने के पहले से ही वह श्रोतापन्न से सगदागामी, सगदागामी से अनागामी और अनागामी से अर्हत अवस्था तक जा पहुँची। भवचक्र टूटा। नितांत विमुक्ति मिली। मनुष्य जीवन सफल हुआ, सार्थक हुआ।

पटाचारा भगवान की प्रमुख शिष्याओं में से एक हुई। जिन थोड़े-से भिक्षु-भिक्षुणी, गृहस्थ पुरुष-नारियों को भगवान ने 'अग्र' की उपाधि दी, उनमें से पटाचारा भी एक थी। भिक्षुणियों के विनय-नियमों को अच्छी तरह जानने और उनका पालन करनेवाली साध्वियों में पटाचारा अग्र मानी गई। उसने अपना सारा शेष जीवन अपनी जैसी दुखियारी नारियाँ को धर्म के मार्ग पर आरूढ़ कर दुख-मुक्त कराने में ही बिताया। अपने कल्याण के साथ-साथ अनेकों के कल्याण का कारण बनी। पटाचारा विपश्यना को और विपश्यना पटाचारा जैसी साध्वी को पाकर धन्य हुई।

× × ×

भगवान के जीवनकाल में।

श्रावस्ती नगरी। अत्यंत निर्धन तथा समाज में नीचे माने जानेवाले कुल में जन्मी एक दुखियारी युवती। नाम गोतमी तिस्स (तिष्या)। परंतु शरीर से अत्यंत दुबली-पतली, कृशकाय होने के कारण घरवाले उसे गौतमी तिस्सा की जगह गौतमी किसा (कृशा) कहने लगे। धीरे-धीरे

आसपास के लोगों में भी वह 'किसा गोतमी' के नाम से ही प्रसिद्ध हो गई।

किसी कर्म संयोग के कारण उसका विवाह श्रावस्ती के एक उच्च जातिवाले धनी परिवार के सुयोग्य पुत्र से हो गया। धन-धान्य से भरा-पूरा संपन्न परिवार और सुंदर स्वस्थ प्रेमिल पति। लगा दुखियारी के दुखों को अंत हुआ। किसा गोतमी का भाग्य फिरा। परंतु वस्तुतः ऐसा हो नहीं पाया। पति का अपार स्नेह पाकर भी उसने देखा कि परिवार के अन्य लोग उससे बेहद नाखुश हैं। दिन-रात सबकी सेवा में रत रहने पर भी परिवारवालों के मन में उसके प्रति अपार घृणा भरी है। एक तो गरीब की कन्या, तिस पर नीचे कुल की। जैसे कोढ़ में खाज हो गई। जाति, धन के भेदभाव से दूषित सड़ी-गली सामाजिक व्यवस्था का भूत परिवार के लोगों के सिर पर बुरी तरह सवार। इसलिए संबंध तो हो गया। परंतु परिवारवाले उसे स्वीकार नहीं कर सके। उनके ताने, बोली सुनते-सुनते बेचारी का हृदय छलनी-छलनी हो गया। इससे अच्छा तो किसी गरीब घर में ब्याही जाती, किसी नीचे माने जानेवाले कुल में ब्याही जाती। यह सारी धन-संपदा किस काम की? घृणा और तिरस्कार का जीवन जीना दूभर हो गया। एकमात्र पति का प्यार ही उसके जीवन का सहारा था।

विवाह के बाद कुछ वर्षों तक उसे कोई संतान नहीं हुई। इस स्थिति ने परिवार में उसके लिए और तिरस्कार जगाया। कुल का एकमात्र पुत्र निःसंतान रह जाएगा तो वंश कैसे चलेगा? कैसी पुण्यहीना बहू घर में आई? पुण्यशालिनी होती तो ऐसे खानदान में ही क्यों जन्मती? और फिर इतने ऊँचे कुल में ब्याही जाकर भी निपूती क्यों रहती? यह सुचमुच भाग्यहीना है। इस अभागिन की वजह से हमारे कुल का वंश नहीं चलेगा। इस प्रकार के अंगारे जैसे बोल उसके तन-मन में विषाद की ज्वाला जलाते रहते। पर बेचारी असहाय! क्या करती? चुपचाप आँसू ढलकाती और सब कुछ सहती रहती।

परंतु कुछ दिन बीतने के बाद उसके दिन फिरे। उसे गर्भ रहा और दस माँस पूरे होने पर उसने एक सुंदर पुत्र-रत्न को जन्म दिया। सहसा

जीवन में रौनक आ गई। परिवार में पुत्रवती वधू का आदर होने लगा। सबकी मनोकामना पूरी हुई। उसने वंश चलाने के लिए परिवार को सुंदर पुत्र जो दिया। जैसे-जैसे पुत्र बढ़ने लगा, उसकी किलकारियों ने घर के वायुमंडल में खुशियों का माहौल भर दिया। सभी उसे गोद में उठाए फिरने के लिए लालायित रहते। अब घरवाले भूल गए कि बच्चे की माँ नीच कुल की और गरीब खानदान की है। वह गृहलक्ष्मी का-सा सम्मान-सत्कार पाने लगी।

पालने में झूलनेवाला बच्चा अब घुटनों के बल चलने लगा। उसकी अठखेलियाँ सबका मन मोहने लगीं। अब वह खड़ा होने लगा। डगमगाकर दो-चार पग चलने भी लगा। उसकी बाल-सुलभ हरकतें सारे परिवार का मोद बढ़ातीं। घर के आँगन में आनंद की फुलझड़ियाँ फूट पड़तीं। किसा गोतमी अपने भाग्य को सराहती। बच्चे को गोद में लेकर प्यार से चूम लेती। इसी लाडले की वजह से उसके दिन फिरे। उसके दुख दूर हुए।

परंतु खुशियों के दिन बहुत शीघ्र पूरे हुए। एक दिन किसा गोतमी की खुशियों पर बिन बादल आकाश की बिजली पड़ी। घर के बाहर बगीचे में खेलते हुए नन्हे से बच्चे को विषधर काला नाग डस गया। देखते-देखते हँसने-मुस्करानेवाला चेहरा नीला पड़ गया। शरीर निश्चल हो गया। साँस रुक गई। हृदय की धड़कन बंद हो गई। घरवालों ने बहुत भाग-दौड़ की। दवा-दारू की, जंतर-मंतर करवाए। पर कुछ काम न आया। बच्चे के प्राण पखेरू उड़ गए। घर में हाहाकर मच गया। किसा गोतमी के दुख का ठिकाना नहीं। हर माँ अपने इकलौते पुत्र पर आसक्त रहती है। पर किसा गौतमी के लिए तो सुख का एकमात्र आधार यह बालक ही था। इसी के कारण उसके दिन फिरे थे। अब क्या होगा? वह दुख के मारे पागल हो उठी।

जब लोगों ने कहा कि बच्चे के शव को श्मशान ले जाकर दफनाएँगे तो ये बोल उसके हृदय में भाले की तरह चुभ गए। ये लोग मेरे बच्चे को घर से बाहर निकाल देंगे। मैं ऐसा कदापि नहीं होने दूँगी। उसने बच्चे की लाश को कसकर छाती से चिपका लिया। करुण क्रंदन करने लगी,

''नहीं, मेरा लाल अभी मरा नहीं है। जहर के नशे में केवल बेहोश हो गया है। गहरी नींद में सो गया है। कोई इसे होश में ला दे। कोई इसे जगा दे। यदि सचमुच प्राण निकल भी गए हैं तो कोई ऐसी औषधि लाए जिससे प्राण वापस आ जाए। यदि तुमसे नहीं होता तो मैं कहीं से माँगकर लाऊँगी, अपने लाल को जगाऊँगी।'' वह बच्चे को छाती से चिपकाए विक्षिप्त अवस्था में घर से निकल पड़ी। घर-घर लोगों से याचना करती। राह में जो मिले उसी से पल्ला पसारकर भीख माँगती, ''मुझे कोई दवा दे दो, जिससे मेरा लाल जाग जाए। इसकी बेहोशी दूर हो जाए। यह मरा नहीं है।''

लोग उसे समझाते, ''माई, यह मर गया है। अब कोई औषधि काम नहीं आ सकती। टूटी की बूटी नहीं होती।'' यह सुनकर वह और पागल हो उठती। बच्चे की लाश को जोरों से छाती से चिपकाती और किसी दूसरे के सामने दवा की भीख माँगती।

उसकी ऐसी दशा पर एक भाई को बहुत दया आई तो उसने कहा, ''माई, कोई सामान्य वैद्य इसके लिए औषधि नहीं दे सकता। इस समय लोक में महाभिषेक, महावैद्य बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। शहर के बाहर उनका जेतवन विहार है। भगवान इन दिनों वहीं टिके हैं। उनके पास जा। वे तुझे उचित औषधि अवश्य देंगे।''

उत्साह से भरी किसा गोतमी दौड़ती हुई जेतवन विहार पहुँची। भगवान उस समय साधकों को साधना की बारीकियाँ समझा रहे थे। आकुल-व्याकुल किसा गौतमी बिना रुके भगवान के समीप पहुँच गई। और बच्चे की लाश भगवान के चरणों के पास रखकर फूट-फूटकर रोने लगी।

''भंते भगवान! लोग मुझसे मेरा लाल छीन लेना चाहते हैं। यह मरा नहीं है। भगवान! यह सो गया है, बेहोश हो गया है। आप इसे जगा दें, आप इसे होश में ला दें।''

''बेटी! यह निष्प्राण है।''

किसा को धक्का लगा। वह फफक-फफककर रोने लगी और बोली, ''यदि निष्प्राण है तो भी भगवान! आप तो महाभिषक हैं। किसी

ने कहा आपके पास संजीवनी औषधि है। मेरे बच्चे में नया प्राण फूँक दें। इसे औषधि अवश्य दें।''

भगवान ने देखा ऐसी भावावेशभरी विक्षिप्त अवस्था में वह धर्म की कोई बात समझने लायक नहीं है। भगवान ने यह भी देखा कि पटाचारा की तरह यह भी अपने पूर्व जीवन में भगवान काश्यप बुद्ध की सात बहनों में से एक रही है और उनके पास खूब तपी है। प्रभूत पुण्य-पारमिताएँ अर्जित की हैं। इस समय अपने किसी दुष्कर्म का फल भोग रही है। परंतु अब इसकी दुख विमुक्ति का समय आ गया है।

भगवान ने शांत गंभीर वाणी में करुणा की मंदाकिनी बहाते हुए कहा, ''हाँ बेटी! कहनेवाले ने ठीक ही कहा है। मैं भिषक ही हूँ, वैद्य ही हूँ। तुम्हें उचित औषधि अवश्य दूँगा।''

गोतमी, ''दीजिए भगवान! मैं आपका उपकार कभी नहीं भूलूँगी।'' किसा के चेहरे पर आशा की किरण चमकी।

भगवान, ''नगर में जाकर चुटकी भर सरसों के दाने माँग ला।''

गोतमी, ''अभी ले आती हूँ, भगवान।''

यूं कहकर किसा शीघ्रता से उठी और जाने को उद्यत हुई।

भगवान ने कहा, ''परंतु देखना, ऐसे परिवार से लाना, जिसमें आज तक कोई मरा नहीं हो।''

''हाँ-हाँ भगवान! ऐसे ही परिवार से लाऊंगी।''

बच्चे को छाती से चिपकाए वह नगर की ओर बेतहाशा भागी। अब मेरा बच्चा अवश्य जी उठेगा। जो पहला घर दिखा, वहीं जाकर अपनी दुखद कहानी सुनाई और चुटकी भर सरसों माँगी। घरवालों ने सहानुभूतिपूर्वक कहा, ''भाई, तेरा लाल जी उठे। चुटकी भर क्या, चाहे तो मन भर सरसों ले जा।''

गोतमी, ''परंतु तुम्हारे यहाँ कोई मरा तो नहीं न!''

यह सुनकर घरवालों का मुँह उतर गया। ''मरा कैसे नहीं भाई! हमारे परिवार में तो अनेक मरे हैं।''

यों एक-एक घर चुटकी भर सरसों की भीख माँगती हुई किसा गोतमी नगर के मोहल्ले-मोहल्ले, गली-गली में भटकती फिरी। उसे

एक भी ऐसा परिवार नहीं मिला, जिसमें कोई मरा न हो। दिन भर की थकी-माँदी शाम होते-होते होश में आ गई। बात समझ में आ गई। घर-घर में लोग मरते हैं। बच्चे भी, जवान भी, बूढ़े भी, नर भी, नारी भी। नगर में जीवित लोगों की संख्या के मुकाबले मरनेवालों की संख्या अधिक है। यह इतने सारे लोग अपने-अपने प्रियजनों के मरने पर मेरी तरह पागल नहीं हो उठे। मरना-जीना किसी के वश की बात नहीं। भगवान ने यह सत्य समझाने के लिए ही मुझे चुटकी भर सरसों के दाने लाने को कहा।

बात तो बहुत साधारण थी। केवल चुटकी भर दानों की माँग। परंतु यही उस दुखियारी के हृदय में धर्म की चेतना जगाने के लिए प्रेरणा का पर्याप्त कारण बन गई। उसका होश जागा। होश जागते ही बच्चे की लाश दफनाने के लिए छोड़ी और जेत वन आश्रम में भगवान के पास आश्रय पाने के लिए चली आई।

भगवान ने उसे आते देखा तो पूछा, ''क्यों बेटी! सरसों के दाने मिले?''

गोतमी, ''नहीं भगवान! दाने तो नहीं मिले, पर खोया हुआ होश मिल गया। हर जनम लेनेवाले को मरना निश्चित है। पहले-पीछे सभी मरते हैं। कोई रुक नहीं सकता।''

भगवान ने देखा अब इसकी मनोस्थिति धर्म समझने लायक है। उसे धर्मदेशना दी। सारे वातावरण को विमल प्रशांत धर्म-तरंगों से आप्लावित करते हुए भगवान बोले,''मृत्यु सभी प्राणियों का अनिवार्य धर्म-स्वभाव है। केवल गाँववालों का नहीं, केवल नगरवालों का नहीं, केवल एक कुल के लोगों का ही नहीं, यह तो देवताओं समेत सभी लोगों का धर्म-स्वभाव है। सभी अनित्यधर्मा हैं, सभी मरणधर्मा हैं। इस सच्चाई को जो नहीं समझते, वे पुत्रों, पशुओं और धन-संपत्तियाँ में आसक्त रहते हैं। मोह मूढ़ता में बेहोश रहते हैं और जन्म-जन्मांतरों तक बार-बार मृत्यु के चंगुल में पड़ते रहते हैं। जैसे नदी में एकाएक आई हुई बाढ़ गहरी नींद में सोए हुए गांव को बहाकर ले जाती है वैसे ही इन प्रमत्त आसक्त लोगों को बार-बार मृत्यु बहाकर ले जाती है।

''कोई इस मोह-निद्रा से जागे, अपने भीतर अनित्यबोध जगाए, उदय-व्यय का दर्शन करे तो ही जन्म-जन्मांतरों के मृत्यु-दुख से सदा के लिए मुक्त हो सकता है।''

''सौ वर्षों तक बिना उदय-व्यय का दर्शन किए जीने की अपेक्षा उदय-व्यय का दर्शन करते हुए केवल एक दिन का जीवन ही अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।''

महाकारुणिक की धर्म-वाणी का अमृतरस कानों में पड़ते-पड़ते किसा गौतमी का अनेक जनमों को संग्रहित पुण्य-फल जागा। शरीर के अणु-अणु में धर्म-चेतना जागी। वह एकाग्रचित्त हुई, स्वमुखी हुई, अंतर्मुखी हुई। 'उदय-व्यय, उदय-व्यय' इस अनित्य धर्म का अपने भीतर सम्यक् दर्शन हुआ। उदय-व्यय, उदय-व्यय का दर्शन करते-करते उत्पाद निरोध का दर्शन हुआ। विरज-विमल धर्म-चक्षु खुले और चंद क्षणों के लिए वहीं उसी अवस्था में निर्वाण का साक्षात्कार हुआ। किसा धन्य हुई, श्रोतापन्न में प्रतिष्ठित हुई। नितांत दुख-विमुक्ति के मार्ग पर प्रतिष्ठित हुई।

श्रद्धा और कृतज्ञता विभोर हो उसने भगवान से प्रव्रज्या की याचना की। भगवान ने अनुमति दी। किसा गोतमी ने आदरपूर्वक भगवान की तीन बार प्रदक्षिणा की, उन्हें नमस्कार किया और भिक्षुणी-विहार में जाकर प्रव्रज्या ग्रहण की।

अब उसके दिन भगवान के सान्निध्य में साधना करने में बीतने लगे। भगवान की धर्म-वाणी मन के बचे हुए मैल उतारने में सहायक सिद्ध हुई। वह बहुत दत्तचित्त हो विपश्यना साधना में जुट गई। एक दिन साधना करते हुए भगवान की अमृतवाणी उसके कानों में गूँजी :

''यो च वस्स सतं जीवे अपस्स अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं॥''

अमृतपद निर्वाण का साक्षात्कार किए बिना कोई भले सौ वर्ष का जीवन जी ले, परंतु उसके मुकाबले अमृतपद निर्वाण का साक्षात्कार करनेवाले का एक दिन का जीवन भी अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।

इन प्रेरणा भरे शब्दों ने किसा गोतमी के मन में धर्म संवेग जगाया।

क्षणभर निर्वाण का साक्षात्कार कर श्रोतापन्न अवस्था प्राप्त की, परंतु नितांत विमुक्ति के लिए अर्हत की निरोध समापत्तिवाली निर्वाणिक अवस्था का साक्षात्कार करना होगा। तभी आवागमन के भवचक्र से छुटकारा मिलेगा। इस प्रेरणा से प्रेरित होकर दृढ़ पराक्रम से विपश्यना करते हुए उसने क्रमश: सगदागामी, अनागामी और अर्हत-फल प्राप्त किया। साधना सफल हुई। भवबंधन खुले। साधिका जीवनमुक्त हुई।

किसा गोतमी भगवान की प्रमुख शिष्याओं में से एक हुई। भिक्षुणियों का जीवन अत्यंत सादगी का जीवन। पर उन भिक्षुणियों में से सबसे अधिक सादगी का जीवन जीनेवाली किसा गोतमी को भगवान ने मोटे, रुखे चीवर धारण करने वालियों में अग्र होने का पद प्रदान किया।

परम साध्वी किसा गोतमी ने अपना शेष जीवन लोकसेवा में ही बिताया। कितनी दुखियारी नारियाँ उसकी प्रेरणा और मार्गदर्शन से दुख विमुक्ति के मार्ग पर लगीं। किसा गोतमी के करुणा भरे चित्त ने नारियों के दुख को खूब समझा। कितने प्रकार के दुख? उपयुक्त वर व ससुराल न मिले तो दुख। सपत्नी हो तो दुख। संतान न हो तो दुख। हो तो गर्भ पालने का दुख। प्रसव का दुख। संतान के लालन-पालन का दुख। संतान दुराचारीणी हो जाए तो दुख। संतान होकर मर जाए तो दुख। स्वयं दुराचारिणी हो जाए तो दुख। अपने पूर्व जन्म की बहन पटाचारा का उदाहरण याद आया। दुराचरण के कारण पति, दोनों संतानों और मां-बाप व भाई के मरने का असीम दुख सहना पड़ा उसे। इस लोक-चक्र में दुख-ही दुख। जिस कल्याणकारी मार्ग को पाकर किसा स्वयं दुखों से मुक्त हुई, वही औरों को बाँटने लगी।

कभी अपने भूतकाल का सिंहावलोकन करती तो भगवान के प्रति कृतज्ञता के भावों से विभोर हो उठती, ''मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ कि मुझे भगवान तथागत जैसे कल्याण मित्र मिले। कल्याण मित्र की संगत मिलती तो जीवन मंगल से भर उठता है। दुर्जन-से-दुर्जन व्यक्ति इस सत्संगति से सज्जन हो जाता है। दुखियारा दुख-विमुक्त हो जाता है। वह दुख का भोगना छोड़कर दुख का दर्शन कर लेता है। दुख के मूल कारण का दर्शन कर लेता है। दुख-विमुक्ति के मार्ग पर स्वयं

चलकर उसका दर्शन कर लेता है और इस प्रकार नितांत दुख-निरोध अवस्था परमपद निर्वाण का दर्शन कर लेता है।

मुझ जैसी दुखियारी ने इसी एक जीवन में नहीं, अनगिनत पूर्व जन्मों में भी कितने दुख झेले हैं। न जाने मेरे कितने प्रियजन मरे हैं। इन मृत प्रियजनों की हड्डियाँ एक जगह एकत्र कर दें तो हिमालय जैसा पहाड़ खड़ा हो जाए। इनके मरने पर मैंने जितने आँसू बहाए हैं, उन्हें एक जगह एकत्र कर दें तो सभी समुद्रों के जल से अधिक हो जाए।

''महाकारुणिक की सत्संगति के कारण ही मेरे सारे दुख दूर हुए। मैंने शील, समाधि और प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलकर धर्म के दर्पण में परम सत्य का साक्षात्कार किया। जन्म-जन्म के बोझ उतर गए। हृदय में चुभा हुआ मर्मभेदी, पीड़ादायी तृष्णा का तीर निकल गया। मैं कृतकृत्य हुई, विमुक्त हुई, धन्य हुई।''

ऐसा कल्याणकारी मार्ग सबको मिले।
ऐसी मुक्तिदायिनी प्रेरणा सबमें जाए॥

• • •

आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयनका एवं श्रीमती इलायचीदेवी गोयनका

श्री गोयनकाजी ने म्यंमा के महान् विपश्यनाचार्य सयाजी ऊ बा खिन से सर्वप्रथम सन् 1955 में 'विपश्यना' साधना सीखी। तब से अभ्यास का क्रम जारी रहा। सन् 1969 में भारत आए। व्यापार-धंधे से सर्वथा अवकाश ग्रहण कर भारत के विभिन्न स्थानों पर इस साधना-विधि के दस-दिवसीय शिविर लगाते रहे। सन् 1976 में प्रमुख विपश्यना केंद्र 'धम्मगिरि' की स्थापना के पश्चात् अब तक पूरे विश्व में लगभग 165 विपश्यना केंद्र स्थापित हो चुके हैं। अन्य नए-नए स्थानों पर भी केंद्र खुलते जा रहे हैं। इनमें साधकों के लिए निःशुल्क आवास तथा भोजनादि की स्थायी व्यवस्था रहती है। विपश्यना सिखाने का सारा व्यय कृतज्ञ साधकों के दान पर निर्भर रहता है। शिविरों का संचालन पूज्य गोयनकाजी तथा उनके द्वारा नियुक्त विश्वभर के 1200 से अधिक सहायक आचार्यों द्वारा किया जाता है। हिंदी, अंग्रेजी के अतिरिक्त विश्व की अन्य 53 भाषाओं में श्री गोयनकाजी के प्रवचनों का अनुवाद हुआ है और उनके माध्यम से विश्वभर में शिविरों का संचालन हो रहा है। शिविर-काल में साधकों को बाह्य संपर्क से दूर, शिविर-स्थल पर ही रहना अनिवार्य होता है।

ध्यान की यह विद्या सीखने के लिए हर संप्रदाय के लोग आते हैं—नर हों या नारी। बाल, वृद्ध, युवा सभी उम्र के लोग आते हैं। बहुत ऊँची शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति आते हैं और एकदम निरक्षर, अनपढ़ लोग भी। धनाढ्य भी आते हैं और दरिद्रनारायण भी। सरकारी व गैर-सरकारी अधिकारी एवं कर्मचारी तथा हर क्षेत्र के व्यवसायी एवं उद्योगपति आते हैं। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हर तबके के लोग आते हैं। किसी भी विपश्यना शिविर में समाज के हर वर्ग का यह अनूठा संगम बहुत विस्मयजनक होता है। इतनी विविधताओं के होते हुए भी सभी लोग इस विद्या से लाभान्वित होते हैं।

ISBN 978-81-7309-840-6

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

Rs. 100/-